माण्डूक्योपनिषत्

(तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित)

व्याख्याकार

स्वामी त्रिभुवनदास

माण्डूक्योपनिषत्
MANDUKYOPANISAT

||श्रीः||

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला
१९५

माण्डूक्योपनिषत्

(तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित)

(विमर्शात्मक संस्करण)

व्याख्याकार
स्वामी त्रिभुवनदास

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली

माण्डूक्योपनिषत्

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली - 110007
दूरभाष : (011) 23856391, 41530902

प्रथम संस्करण 2016
पृष्ठ : 66+128
मूल्य : ₹ 125.00

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069
वाराणसी - 221001

❖

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपाल मन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129
वाराणसी - 221001

❖

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड़
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

ISBN : 978-81-7084-714-9

सम्पादन सहयोग - रुद्रनारायणदासं

मुद्रक :
ए. के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

THE
VRAJAJIVAN PRACHYABHARATI GRANTHAMALA
195

MANDUKYOPANISAT

with 'Tattvavivechani' Hindi Commentary

(Critical Edition)

by
Swami Tribhuvandass

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
DELHI

Mandukyopanisat

Publishers :
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007
Phone : (011) 23856391, 41530902
E-mail : cspdel.sales@gmail.com
Website : www.chaukhambabooks.in

First Edition : 2016
Pages : 66+128
Price : ₹ 125.00

Also can be had from :
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind The Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi 110002

ISBN : 978-81-7084-714-9

Editorial Assistance - Rudranarayandass

Printed by :
A. K. Lithographers, Delhi

आत्मनिवेदन

पूज्य गुरुदेव अनन्तश्रीविभूषित ब्रह्मविद्वरिष्ठ महान्त **श्रीस्वामी नृत्यगोपालदासजी महाराज** की पावन आज्ञा से प्रवर्तमान उपनिषद्व्याख्यान माला का षष्ठ प्रसून माण्डूक्योपनिषत् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या प्रस्तुत है। पूज्य गुरुदेव और अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्भागवतप्रवक्ता श्रीमलूकपीठाधीश्वर **श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज** ये दोनों महापुरुष मेरे स्वाध्याय और लेखनकार्य के प्रेरणास्रोत हैं। मैंने व्याकरण तथा वेदान्तके अप्रतिम विद्वान् **पण्डित श्रीरामवदनजी शुक्ल** और वीतराग-परमहंस, दार्शनिक सार्वभौम **स्वामी शंकरानन्द सरस्वतीजी** से विशिष्टाद्वैत वेदान्तका अध्ययन किया था। इन सभी महात्माओं के पावन पादपद्मों में अनन्त प्रणति समर्पित हैं। **श्रीरुद्रनारायणदासजी** (स्वामी रामानन्दाश्रम, मायाकुण्ड ऋषीकेश)ने इस ग्रन्थ का कुशलता से सम्पादनकार्य सम्पन्न किया है। इनके परिश्रम के परिणामस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ उपनिषत्प्रेमी पाठकों के हाथों में प्रस्तुत है।

स्वामी त्रिभुवनदास
मङ्गलम्कुटीरम् गङ्गालाइन
स्वर्गाश्रम (ऋषीकेश)
उत्तराखण्ड, पिन-249304

श्रीगङ्गादशहरा
वि.सं.2073

शुभ-आशीर्वाद

श्रीराम

उपनिषद् भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। वे वेदों के सारसर्वस्व हैं। श्रीत्रिभुवनदासजी ने उपनिषदों पर विशद तत्त्वविवेचनी व्याख्या करके पाठकों का अत्यन्त हित किया है। वास्तव में आजकल पाठकों एवं लेखकों की आध्यात्मिक विषय में रुचि ही नहीं है। यह प्रेरणास्पद कार्य अपने में अनूठा है, इस महान् कार्यहेतु मैं आशीर्वाद देता हूं।

महान्त नृत्यगोपालदास
श्रीमणिरामदास छावनी
अयोध्या

शुभसम्मति

मानव के सकल पुरुषार्थ और उसके साधनों का बोधक वेद है, वह कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दो भागों में विभाजित है। परमपुरुषार्थ मोक्ष, उसका साधन ब्रह्मविद्या और उससे आराध्य ब्रह्म का प्रतिपादन ज्ञानकाण्ड में उपलब्ध होता है, इस काण्ड को ही उपनिषत् कहते हैं। यह वेद का अन्त अर्थात् प्रधान भाग होने से वेदान्त पद का वाच्य है। वेदान्तपरम्परा में उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र व श्रीमद्भगवद्गीता ये ही प्रस्थानत्रयी कहे जाते हैं, इन पर अनेक आचार्यों ने व्याख्या लिखकर अपने अपने सिद्धान्तों की स्थापना की है, जिनमें परम प्राचीन श्रीसम्प्रदायाचार्य महर्षि श्रीबोधायन हैं, जिन्होंने सम्प्रदायपरम्परा से प्राप्त विशिष्टाद्वैतवेदान्तसिद्धान्तानुसार ब्रह्मसूत्र पर वृत्ति लिखकर समग्र अध्यात्म जगत् का उपकार किया। यह हमारा सौभाग्य है कि भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य की पावन परम्परा में पूर्वाचार्य के रूप में श्रीबोधायनाचार्य प्रतिष्ठित हैं।

आचार्य बोधायन के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए अनेक महनीय आचार्यों ने वेदान्तग्रन्थों की रचना की। राष्ट्रभाषा में विशिष्टाद्वैतवेदान्त ग्रन्थों की अनुपलब्धता के कारण हमारे परम आदरणीय, तपःस्वाध्यायपूतान्तःकरण, सहज, सरल, विद्वद्वरेण्य पूज्य स्वामी त्रिभुवनदासजी ने विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन तथा ईश, केन, कठ, प्रश्न और मुण्डकोपनिषद् की तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या प्रस्तुत करके विशिष्टाद्वैतमतावलम्बी श्रीवैष्णवसम्प्रदायों की अविस्मरणीय महनीय सेवा करके महान उपकार किया है, यह अत्यधिक प्रसन्नता का विषय है कि अब इन्होंने माण्डूक्योपनिषत् की विस्तृत 'तत्त्वविवेचनी' हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत की है।

उपनिषद्भाष्यकार श्रीरङ्गरामानुजमुनि ने प्रस्तुत उपनिषत् में समस्त व व्यस्त ओंकार की उपासना का विधान माना है, उनके अनुसार ओंकार में ब्रह्मदृष्टि तथा ओंकार के अवयव अकार,

उकार, मकार, और अर्धमात्रा में क्रम से विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय दृष्टि विहित है अर्थात् ओंकार को ब्रह्म समझकर तथा अकार को अनिरुद्ध, उकार को प्रद्युम्न, मकार को संकर्षण और अर्धमात्रा को वासुदेव समझकर उपासना करनी चाहिए किन्तु प्रस्तुत तत्त्वविवेचनी व्याख्याकार ने ब्रह्मोपासना का विधान माना है, उनके अनुसार इस उपनिषत् में ओंकार के वाच्य ब्रह्म की उपासना तथा अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा के क्रम से वाच्य विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय की उपासना विहित है, इस प्रकार सविशेषाद्वैतसिद्धान्तानुसारी इस व्याख्या का अपना वैशिष्ट्य है। पूर्व में विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त के आचार्य श्रीकूरनारायणमुनि व द्वैतसम्प्रदाय के श्रीमध्वाचार्य भी ऐसी व्याख्या करते आए हैं। निखिलहेयप्रत्यनीकचिदचिदविशिष्ट सर्वेश्वर परात्पर ब्रह्म श्रीसीताराम जी एवं श्रीहनुमानजी से प्रार्थना है कि वे व्याख्याकार को अपने चरणों की अविरल प्रीति व अनपायिनी भक्तिप्रदानपूर्वक दीर्घायुष्य का प्रसाद प्रदान करें, जिससे ये सनातन धर्म की सेवा करते रहें।

ज्येष्ठशुक्ल 14, वि.सं.2073
सत्संगशिविर गीताभवन
ऋषीकेश

दासानुदास
राजेन्द्रदास देवाचार्य
व्याकरणसाहित्यवेदान्ताचार्य
मलूकपीठ, वृन्दावन

शुभकामना

आज मनोविज्ञान में चेतना की परिवर्तित अवस्था (ASC) पर अनेकानेक वैज्ञानिक संशोधन हो रहे हैं। मनोविज्ञान की एक भी पाठ्यपुस्तक ऐसी नहीं होगी, जिसमें ASC का एक प्रकरण न हो। जाग्रत, तंद्रा, निद्रा, स्वप्न, गाढ़ निद्रा, संमोहन (Hypnotism), ध्यान (Meditation) आदि चेतना की वे परिवर्तित अवस्थाएं हैं, जिनके बारे में बहुत वैज्ञानिक संशोधन हुए हैं और होते रहते हैं। चेतना की अवस्थाओं के बारे में भारतीय चिन्तन में सबसे गहरा और विशद चिन्तन माण्डूक्य-उपनिषत् में किया गया है। वास्तव में माण्डूक्य-उपनिषत् चेतना की अवस्थाओं का ही उपनिषत् है, इसलिए आज के मनोविज्ञान के ASC संबधित संशोधनों के लिए यह उपनिषद् अति महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शक सिद्ध हो सकती है। अगर ASC विषयक वैज्ञानिक संशोधनों का विश्लेषण किया जाये तो हमें चेतना की विविध अवस्थाओं के बारे में अलग-अलग वैज्ञानिक सत्य प्राप्त होते हैं। पूरे विश्व में ASC विषयक जो भी संशोधन हुए हैं, उन सभी को एकसूत्रता और तार्किक सुसंगतता से जोड़ने का सामर्थ्य माण्डूक्योपनिषत् में प्रतिपादित चेतनासिद्धान्त रखता है।

स्वप्नावस्था के अनेक वैज्ञानिक संशोधन, पाश्चात्य मनोविज्ञान में E.E.G. (Electro Encephalogram) और R.E.M. (Rapid Eye Momvement) के माध्यम से किये गये हैं। निद्रा की गहराई के विविध स्तर (Stages) भी वैज्ञानिकों ने E.E.G और R.E.M के आध ार पर तय किये हैं। इन सभी संशोधनों का यदि माण्डूक्योपनिषत् में किये गये जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओं के विश्लेषण के परिप्रेक्ष्य में परीक्षण और मूल्यांकन किया जाय तो चेतना की अवस्था के बारे में पूरे विश्व को समग्र ज्ञान उपलब्ध कराया जा सकता है, जिसमें विज्ञान और अध्यात्म, पाश्चात्य और पौरस्त्य, शास्त्रीय और वैज्ञानिक तथ्य (Fact) और मूल्य (Value) आदि द्वैतों का सुन्दर समन्वय सिद्ध हो सकता है।

चेतना की अवस्थाओं को E.E.G. और R.E.M. संशोधन के आध ार पर कहें तो उसके अनुसार एक ही व्यक्ति हर रोज, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था से गुजरता है। वैज्ञानिक दृष्टि से निद्रा के N.R.E.M.

और R.E.M.ऐसे स्तर हैं, जिसमें N.R.E.M स्वप्नविहीन गाढ़ निद्रा को सूचित करता है। जो E.E.G. में डेल्टा तरंग से जाना जाता है। क्या यही माण्डूक्योपनिषद् में वर्णित सुषुप्ति अवस्था है? या दोनों में अन्तर है? अन्तर है तो क्या है? ध्यानावस्था में E.E.G. में अल्फा तरंगें प्राप्त होती हैं। तुरीय अवस्था में E.E.G. अल्फा तरंग ही दिखायेगा या अलग दिखायेगा?

21वीं शताब्दी में चेतना और चेतनाविषयक संशोधनों का जो वैश्विक स्तर पर प्रस्तुतीकरण है उस संदर्भ में, हमारे परम आदरणीय श्रद्धेय विद्वत्शिरोमणि आदर्श आचार्य पू. स्वामी त्रिभुवनदासजी की विचक्षण बुद्धि और साधक प्रतिभा से माण्डूक्योपनिषद् पर लिखी तत्त्वविवेचनी व्याख्या ग्रन्थ वर्तमान आध्यात्मिक विद्वत् जगत् में अतिप्रशस्त और आवश्यक मार्गदर्शक सिद्ध होगा। अगर इस पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद विश्व के समक्ष रखा जाये तो पूरे विश्व के चेतनाविषयक संशोधकों को भारत के मन्त्रद्रष्टा ऋषिमुनियों के दर्शन की गहराई और सूक्ष्मता से अवगत कराया जा सकता है। यह ग्रन्थ हर इन्सान को जिसे खुद को समझना है अर्थात् 'स्वस्वरूप' की तात्त्विक पहचान करनी है, ऐसे सभी साधकों और सत्यशोधकों को सैद्धान्तिक एवं साधनासम्बन्धी मार्गदर्शन तो देगा ही किन्तु चेतनाविषयक जो भी वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक चिन्तक या संशोधक हैं, उन सभी को बौद्धिक आनन्द और संतोष प्रदान करने वाला तथा संशोधनों के नवीन आयामों को प्रकाशित करने वाला सिद्ध होगा।

यदि माण्डूक्योपनिषद् में प्रतिपादित चेतनाविषयक ज्ञान मनुष्य का अपरोक्ष अनुभवात्मक हो जाये तो वह चिन्ता, खिन्नता, तनाव, शून्यता, राग-द्वेष आदि मनोवैज्ञानिक समस्याओं से सदा के लिए मुक्त होकर शाश्वत, अखण्ड आनन्द की प्राप्ति कर सकता है, जो कि प्राणीमात्र की प्रवृत्ति का अन्तिम लक्ष्य होता है। विद्यार्थियों को स्कूल और कॉलेजों में यह पुस्तक पाठ्यक्रम में पढ़ायी जाय तो व्यक्ति अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, जो उसे जीवन की हर सुख-दुःख-मोहात्मक परिस्थिति में समता प्रदान करके, जीवनमुक्ति के परम आनन्द की अवस्था में जीने की कला सिखा सकता है। इस प्रकार

शिक्षण की दृष्टि से भी अतिमहत्त्वपूर्ण इस अमूल्य ग्रन्थ के परम वैज्ञानिक व्याख्याकार पू. स्वामी त्रिभुवनदासजी के चरणों में सादर कोटि कोटि वन्दन।

कु. (डॉ.) अचिन्ता याज्ञिक
(पी.एच.डी. के श्रेष्ठ महानिबन्ध के लिए
मानवसंसाधन विभाग का राष्ट्रीय पुरस्कार विजेता)
अध्यक्षा, मनोविज्ञान विभाग
बी.डी. कालेज(जी.एल.एस)
अहमदाबाद (गुजरात)

सम्पादकीय

माण्डूक्योपनिषत्-रङ्गरामानुजभाष्य की व्याख्या आप जैसे प्रबुद्ध पाठकों के करकमलों में समर्पित है। इसमें मन्त्र के पश्चात् अन्वय और मन्त्र के पदों का अर्थ प्रस्तुत है, जिससे सामान्य पाठकों को भी मन्त्रार्थ अत्यन्त सरलता से हृदयंगम हो सके। इसके पश्चात् अद्यावधि पर्यन्त उपलब्ध उपनिषद्भाष्यों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रङ्गरामानुजभाष्य, उसका अनुवाद तथा गम्भीर, विस्तृत और हृदयस्पर्शी व्याख्या सन्निविष्ट है। विषयवस्तु को अवगत कराने के लिए इसे यथोचित शीर्षकों से सुसज्जित किया गया है। इसके अध्ययन से विषय अनायास ही हृदयपटलपर अंकित होता चला जाता है, पाठकगण इसका स्वयं अनुभव करेंगे। मन्त्र के यथाश्रुत अर्थ का बोध कराना ही हमारे व्याख्याकार आचार्य स्वामीजी को अभीष्ट है, फिर भी कुछ स्थलों में अन्य मतों की संक्षिप्त समालोचना हुई है, जो कि प्रासङ्गिक है। ग्रन्थके अन्तमें परिशिष्ट भी दिये गये हैं, जिससे यह ग्रन्थ शोधकर्ताओं के लिए भी संग्राह्य हो गया है। हमारा विश्वास है कि हिन्दी माध्यम से उपनिषदों के अध्येता इस ग्रन्थरत्न का आदर करेंगे।

प्रस्तावना

पुरुषार्थ

पुरुष के द्वारा प्रार्थनीय पदार्थ पुरुषार्थ कहलाता हैं- **पुरुषेण अर्थ्यते प्रार्थ्यत इति पुरुषार्थः**। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चतुर्विध पुरुषार्थ हैं। विधिवाक्यों से बोधित कर्म ही धर्म कहा जाता है- **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः** (जै.सू.1.1.2)। धन और उससे प्राप्त होने वाले सभी प्रकार के भोग्य पदार्थों को अर्थ कहा जाता है। सुखभोग को काम कहा जाता है। दुःखों का मूल प्रकृतिबन्धन से सर्वथा विनिर्मुक्त होकर निरतिशय आनन्दरूप परमात्मा का अनुभव ही मोक्ष कहलाता है। बालक से लेकर वृद्धपर्यन्त सभी सुख की ही अभिलाषा करते हैं, यह बात प्रसिद्ध है। काम और मोक्ष सुखरूप होने से पुरुषार्थ कहलाते हैं। धर्म और अर्थ तो सुख के साधन होने से पुरुषार्थ कहे जाते हैं, वे सुखरूप नहीं होते अतः धर्म और अर्थ से काम और मोक्ष श्रेष्ठ हैं और उन दोनों में भी मोक्ष अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि कामरूप सुख दुःखसे मिश्रित तथा विनाशी होता है और सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ मोक्षरूप सुख दुःख से रहित तथा अविनाशी है। मानव के सभी प्रकार के पुरुषार्थ के साधनों का बोधक वेद है। चारों वेदों की प्रत्येक शाखा का अन्तिम भाग उपनिषत् नाम से प्रख्यात हैं। महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य में **नवधाऽऽथर्वणो वेदः**(महाभाष्य पस्पशाह्निक) इस प्रकार अथर्ववेद की 9 शाखाएं कही हैं।

माण्डूक्योपनिषत्

प्रस्तुत उपनिषत् अथर्ववेद की माण्डूक्य शाखा के अन्त में पढ़ी गयी है, इसलिए इसका नाम माण्डूक्योपनिषत्[1] है। आचार्य आनन्दतीर्थ

1.**अथर्ववेदीयमाण्डूक्यशाखान्ते पठितत्वाद् इयं माण्डूक्योपनिषत् इति व्यपदिश्यते।** (संस्कृतसंशोधनसंसत् मेलुकोटे द्वारा प्रकाशित भाष्यपञ्चकोपेता माण्डूक्योपनिषत् सन 2005 की प्रस्तावना से उदधृत।), **मुण्डक-माण्डूक्य-तैत्तिरीयोपनिषन्नामनिर्देशे तु तत्तन्नामकशाखान्तर्गतोपनिषत्त्वमेव निबन्धनम्।** (श्रीउत्तमूर वीरराघवाचार्य सेन्टिनरी ट्रस्ट चैन्नै द्वारा प्रकाशित 'तैत्तिरीय-ऐतरेय-छान्दोग्यभाष्यम्' सन 2004 की ऐतरेयभूमिका पृ.248 से उद्धृत)

नहीं की है, फिर भी वे श्रीभाष्यश्रुतप्रकाशिका की भावप्रकाशिका व्याख्या में श्लोक को माण्डूक्यश्रुति कहते हुए उद्धृत करते हैं[1]। श्लोकसहित माण्डूक्योपनिषत् के भाष्यकार द्वैतवादी आचार्य आनन्दतीर्थ अपने भाष्य में श्लोकों को ब्रह्मदृष्टमन्त्र(श्रुति) कहते हुए उनका भाष्य लिखते हैं[2] और इनके ही अनुयायी 'खण्डार्थ' व्याख्याकार **श्रीराघवेन्द्रतीर्थ** भी इन्हें ब्रह्मदृष्टमन्त्र कहते हुए व्याख्या करते हैं[3]। द्वैताद्वैतसिद्धान्त के आचार्य **अमोलकरामशास्त्री** श्लोकों को ब्रह्मदृष्टमन्त्र स्वीकार करते हैं[4]। अचिन्त्य भेदाभेदसिद्धान्त के आचार्य **बलदेव विद्याभूषण** भी स्वरचित ब्रह्मसूत्रभाष्य में कारिका को श्रुति कहते हैं[5]। शांकरसम्प्रदाय में श्लोकात्मक कारिकाएं **गौडपादाचार्यकृत** ही मानी जाती हैं। वे 'आगमप्रकरण', 'अद्वैतप्रकरण' 'वैतथ्यप्रकरण' और 'अलातशान्तिप्रकरण' इस प्रकार चार प्रकरणों में विभक्त हैं। आगमप्रकरण में 29 श्लोक हैं। सम्पूर्ण श्लोकों की संख्या 215 है।

श्रीशंकराचार्यादि के द्वारा व्याख्यात श्लोक क्या गौडपादीयकारिकाएं हैं? अथवा माण्डूक्य मन्त्र हैं? इस प्रकार माण्डूक्योपनिषत् की कारिकाओं के विषय में कुछ विवाद उपलब्ध होता है, उनमें वैतथ्यादिप्रकरण के श्लोकों का गौडपादविरचित कारिका होना निर्विवाद है अतः यह विवाद आगमप्रकरण के श्लोकों के सन्दर्भ में ही है, ऐसा जानना चाहिए। शांकरभाष्य केवल माण्डूक्योपनिषत् का नहीं है, अपितु कारिकासहित माण्डूक्योपनिषत् का है। कुछ विद्वानों का कहना है कि आगमप्रकरण में

---

1. **भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे। देवस्यैव स्वभावोऽयम् आप्तकामस्य का स्पृहा॥** (मां.का.9) इति माण्डूक्यश्रुतौ सृष्टेः लीलार्थत्वस्य. ....(भा.प्र.2.1.33)।
2. **प्रमाणस्य प्रमाणं च बलवद् विद्यते मुने। ब्रह्मदृष्टान् यता मन्त्रान् प्रमाणं सलिलेश्वरः। अत्र श्लोका भवन्तीति चकारैव पृथक् पृथक्॥**(म.भा.)।
3. उपनिषत्स्वयंप्रमाणत्वेऽपि दार्ढयाय स्वोक्तार्थे ब्रह्मदृष्टान् मन्त्रान् उदाहरति- **अत्रैते श्लोका भवन्तीति।** (ख.व्या.)।
4. स्वोक्तदार्ढ्याय ब्रह्मदृष्टान् मन्त्रान् प्रमाणत्वेन वक्तुं प्रतिजानीते- **अत्रैते श्लोका भवन्ति।** (उ.प्र.)।
5. **देवस्यैव स्वभावोऽयम् आप्तकामस्य का स्पृहा॥**(मां.का.9)इति माण्डूकश्रुतेः। (ब्र.सू.गो.भा.2.1.33)।

विद्यमान श्लोकों को गौडपादीय कारिकाएं नहीं मानना चाहिए अपितु उन्हें उपनिषद्मन्त्र ही मानना चाहिए। श्रीगौडपादाचार्य के पूर्व माण्डूक्योपनिषत् की आनुपूर्वी श्लोकरहित ही थी, इस विषय में उपनिषद्ब्रह्मेन्द्रयोगी कहते हैं-"इस उपनिषत् का व्याख्यान करने के इच्छुक गौडपादाचार्य के समक्ष माण्डूक्य के गूढ आशय का अनुवाद करने वाली हजारों श्रुतियाँ और मन्त्र प्रकट हुए। उनमें कुछ मन्त्रों को माण्डूक्योपनिषत् के प्रत्येक खण्ड में विभागपूर्वक लगाया। शेष श्रुति के मन्त्रों का अर्थतः कारिकारूप से संग्रह कर तीन प्रकरणों की रचना की"। उनकी वासना से कल्पित कारिकाओं का श्रुतित्व श्रीभाष्यादिग्रन्थसम्मत नहीं है-**यदाह उपनिषद्ब्रह्मयोगी 'तामेतामुपनिषदं व्याचिख्यासोः गौडपादाचार्यस्य माण्डूक्यगूढाशयानुवादिन्यः श्रुतयो मन्त्राश्च प्रादुर्बभूवुः सहस्रशः। तत्र कांश्चिन्मन्त्रान् माण्डूक्योपनिषदः प्रत्यंशं विभागशो योजयामास। शिष्टश्रुतिमन्त्रजातमर्थतः संगृह्य कारिकारूपेण प्रकरणत्रयं रचयामास' इति। तद्वासनाकल्पितं च श्रुतित्वं श्रीभाष्याद्यसम्मतम्**[1]। यह उपनिषद्ब्रह्मयोगी की निजी धारणा है, वस्तुतः ये सभी गौडपादाचार्य की ही रचनाएं हैं।

माण्डूक्य मन्त्रों से कारिकाओं का भाषासादृश्य नहीं है, उनकी भाषा प्राचीन न होकर आधुनिक है और सभी कारिकाओं की भाषाशैली एक ही है, इन कारणों से कुछ कारिकाओं को उपनिषद्मन्त्र मानना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता अपितु उन सभी को एक ही व्यक्ति की रचना मानना युक्तियुक्त है। आगमप्रकरण की कारिकाएं माण्डूक्योपनिषद् मन्त्रों की व्याख्यानरूप हैं, इस विषय में कोई विवाद नहीं है, इसीलिए श्रीरामानुजाचार्य स्वयं श्रीभाष्य के जिज्ञासाधिकरण में पूर्वपक्ष के निरूपण में ही नहीं अपितु सिद्धान्त पक्ष के समर्थन में भी **अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।** (मां.का.16) इस कारिका को उद्धृत करते हैं तथा अन्य सविशेषब्रह्मवादी वेदान्ताचार्य भी उन कारिकाओं की व्याख्या करते हैं।

---

1. श्रीउत्तमूर वीरराघवाचार्य सेन्टिनरी ट्रस्ट चैन्नै द्वारा प्रकाशित श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचितम् 'तैत्तिरीय-ऐतरेय-छान्दोग्यभाष्यम्' सन 2004 की ऐतरेयोपनिषद्भाष्यभूमिका पृ.12 से उद्धृत।

आचार्य गौडपाद

श्रीशंकराचार्य के गुरु गोविन्दभगवद्पाद थे और उनके गुरु गौडपादाचार्य। वास्तव में निर्विशेषाद्वैतवाद के प्रथम प्रवर्तक ये परमगुरु गौडपाद ही सिद्ध होते हैं, ये ही मायावाद के प्रवर्तक माने जाते हैं और इन्हीं के द्वारा सर्वप्रथम केवलाद्वैतवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ, इनकी कीर्तिपताका माण्डूक्यकारिका है जो कि शांकरवेदान्त का सर्वोच्च गौरव ग्रन्थ माना जाता है। ये निर्विशेषाद्वैतसम्प्रदाय के महामहिम आचार्य हैं, इसीलिए श्रीशंकराचार्य माण्डूक्यकारिकाभाष्य के समापन में श्रीगौडपादाचार्य को **'पूज्याभिपूज्यम् परमगुरुम्'** कहकर अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम करते हैं तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य में **अत्रोक्तं वेदान्तार्थसम्प्रदायविद्भिराचार्यैः**(ब्र.सू. शां.भा. 2.1.9) और **तथा च सम्प्रदायविदो वदन्ति**(ब्र.सू.शां.भा.1.4.14) इस प्रकार उन्हें सम्मान के साथ 'सम्प्रदायविद् आचार्य' कहकर उनकी कारिका उद्धृत करते हैं।

आचार्य गौडपाद ने कारिकाएं लिखकर अद्वैतवेदान्त की आधारशिला रखी, जिसके ऊपर शंकर ने अद्वैतवेदान्त का महल खड़ा किया। यदि माण्डूक्यकारिकाएं उपनिषत् के मन्त्र होते तो आचार्य शंकर उसका उल्लेख अवश्य करते। उनके उल्लेख न करने से यह स्पष्ट है कि वे गौडपादकृत ही हैं, उपनिषद्मन्त्र नहीं, उन्हें मन्त्र मानने की धारणा उनसे परवर्ती काल में लगभग 300 वर्ष पश्चात् प्रचलित हुई।

आचार्य शंकर का उपकार

श्रीगौड़पादाचार्य से पहले वेदान्तसिद्धान्त विरोध से रहित सर्वथा एकरूप था। विद्वानों की प्रतिपादनशैली में कुछ भेद हो सकता था किन्तु प्रमेय तत्त्व के विषय में सभी के समान विचार थे। श्रीशंकराचार्य से पूर्व भारत बौद्धबहुल था। वेदप्रमाण का निराकरण करने वाले बौद्ध विद्वान् किसी न किसी रूप में जीवात्मा को मानते हैं, चाहे वे उसे क्षणिक विज्ञान कहें अथवा शून्यादि किन्तु परमात्मा को सर्वथा नहीं मानते। आचार्य शंकर का प्रधान कार्य था-वेदप्रामाण्य की प्रतिष्ठा। जिसमें वे पूर्णतः सफल हुए, उन्होंने ब्रह्म की सत्ता का भी प्रतिपादन किया किन्तु तत्कालिक परिस्थिति के कारण उसे जीवात्मा से अभिन्न कह दिया। बौद्धों

को राजाश्रय प्राप्त था, शंकर एक वीतराग सन्यासी थे, उन्होंने अपने उत्कट तपस्या एवं मेधा के बल से बौद्धों को पराभूत किया, इसके लिए वैदिक समाज सदा उनका ऋणी रहेगा। बौद्ध और जैन से आक्रान्त विकराल कलिकाल में यदि श्रीशंकराचार्य आविर्भूत नहीं होते तो वैदिकसिद्धान्त उषाकाल के तारों के समान निस्तेज होकर लीन ही हो जाते, यह कथन अतिशयोक्ति नहीं है। जिन उपनिषदों को प्रमाण मानकर आचार्यों ने भाष्यरचना की है, उनमें कहीं भी विवर्तवाद का प्रतिपादन नहीं है। **यथा सोम्य! एकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं भवति**(छां.उ.6.1.4) यह छान्दोग्यश्रुति मृद्घट दृष्टान्त को कहती है तथा **परिणामात्**(ब्र. सू.1.4.27) यह ब्रह्मसूत्र परिणाम को कहता है। विवर्तवाद तो बौद्ध दार्शनिकों की देन है, ऐसा होने पर भी आचार्य शंकर ने अत्यन्त कुशलता से बौद्धों को शान्त करने के लिए विवर्त शब्द का प्रयोग किया। इसका कारण तात्कालिक सामाजिक परिस्थितियाँ ही थीं, जिनके चलते वे स्पष्ट रूप से श्रुतिप्रतिपादित तत्त्व का प्रतिपादन नहीं कर सके। उस काल में यदि सविशेषाद्वैती आचार्य होते तो वे भी परिस्थितिवशात् शंकर का ही अनुसरण करते। आचार्य शंकर ने अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन किया। सविशेषाद्वैती वेदान्ताचार्य उनके चिन्तन को और अधिक सूक्ष्मता की ओर ले गये।

मायावाद और जगत्मिथ्यात्व

श्रीगौड़पादाचार्य ने माण्डूक्यकारिका में **न निरोधो न चोत्पत्ति**(मां. का.2.32) इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति और लयका निषेध किया है तथा **अजातवाद** का प्रतिपादन किया है, इसका मूल बौद्धग्रन्थ बोधिचर्यावतार(9. 146)का यह वाक्य है-**एवं न च निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति सर्वदा, अजातमनिरुद्धं च तस्मात् सर्वमिदं जगत्**। बौद्धों का मायावादी होना बौद्धदार्शनिकों के निम्न वचनों से ज्ञात होता है-**यदि निर्वाणादपि कश्चिद् धर्मो विशिष्टतरः स्यात्, तमप्यहं मायोपमं स्वप्नोपमम् इति वदेयम्**।(अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पृ.40), **नामरूपमेव माया मायैव नामरूपम्**।(शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पृ.898), **मायोपमास्ते सत्त्वा इति माया च सत्त्वाश्च अद्वयमेतत्**।(पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पृ.

40), **यावत् प्रत्ययसामग्री तावन्मायाऽपि वर्तते।**(बोधिचर्यावतार पृ.9)[1] बौद्धों का यह प्राचीन मायावाद ही वर्तमान मायावाद का मूल है। शंकराचार्य से पूर्व गौड़पाद को छोड़कर किसी भी आचार्य ने जगत् को मिथ्या नहीं कहा। आचार्य शंकर से परवर्ती उनके अनुयायी विद्वानों के समक्ष दो विकल्प थे-एक वैदिक अद्वैत की स्वीकृति, दूसरा बौद्ध मत की ओर झुकाव। बौद्धवासनावासित परवर्ती विद्वानों को वैदिक अद्वैत में द्वैत का भ्रम होता था अतः उनका झुकाव बौद्ध मत की ओर हो गया इसीलिए श्रीवाचस्पति मिश्र ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य की भामती व्याख्या में **ये तु प्रकृष्टमतयस्तेभ्यः साक्षादेव शून्यतातत्त्वं प्रतिपाद्यते**(भामती2.2.18) इस प्रकार शून्यवाद मानने वाले बौद्धों को श्रेष्ठ मति वाला कहते हैं और **अस्माकं मायावादिनाम्** (भामती 2.1.29) इस प्रकार निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्त को महिमामण्डित करने के लिए गौरवसहित अपने को मायावादी घोषित कर धन्य मानते हैं। भामती ही नहीं अपितु शांकरभाष्य के परवर्ती निर्विशेषाद्वैतसिद्धान्त के सभी प्रकरणग्रन्थों में बौद्धदर्शन का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। वस्तुतः जगत् का सत्यत्व, जीव से भिन्न सत्य सविशेष ब्रह्म, भक्तिरूपापन्न ज्ञान से मोक्ष इत्यादि विषय ही बौद्धसिद्धान्त से वेदान्तसिद्धान्त का भेद सिद्ध करते हैं किन्तु ये विषय शांकरदर्शन में मान्य नहीं हैं।

जगत्मिथ्यात्व का निराकरण

जगत् को मिथ्या कहना श्रुतिसम्मत नहीं है क्योंकि जिन उपनिषदों को परम प्रमाण मानकर आचार्यों ने उन पर भाष्य लिखकर स्वमत की स्थापना की है, उनमें जगत् को मिथ्या कहीं भी नहीं कहा गया है। इस विषय में उपनिषदों के समान ही गीता और ब्रह्मसूत्र हैं। इतना ही नहीं किन्तु मिथ्या, कल्पित, अध्यारोपित, विवर्त आदि शब्दों का तथा रज्जुसर्प आदि दृष्टान्तों का भी उनके अभिमत अर्थ में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। जिस प्रकार अधिष्ठान रज्जु अज्ञान से सर्परूप प्रतीत होती है, वहाँ रज्जु ही

---

1. इस विषय में 'पातंजलयोगदर्शन-व्यासभाष्य' हिन्दी अनुवाद, सुविशद हिन्दी व्याख्या(व्याख्याकार स्वामी हरिहरानन्द आरण्य, सम्पादक डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास) पृ. 439 द्रष्टव्य है।

सत्य है, सर्प सत्य नहीं है, वह मिथ्या है, उसी प्रकार अधिष्ठान ब्रह्म अज्ञान से जगद्रूप प्रतीत होता है। वहाँ ब्रह्म ही सत्य है, जगत् सत्य नहीं है, वह मिथ्या है। इस प्रकार जगत् को रज्जुसर्प के समान मिथ्या नहीं कह सकते क्योंकि जिसमें सर्प का भ्रम होता है, वह रज्जु सत्य होती है। रज्जु में जिस सर्प का भ्रम होता है, वह सर्प भी अन्यत्र सत्य होता है। यदि कहीं भी सत्य सर्प नहीं होगा तो रज्जु में सर्प का भ्रम नहीं होगा। सर्प का भ्रम न होने से जगत् को रज्जुसर्प के समान मिथ्या नहीं कहा जा सकता। भ्रम की सिद्धि के लिए कहीं न कहीं सत्य सर्प को मानना ही होगा। जिस पुरुष को भ्रम होता है, वह भी अधिष्ठान रज्जु से भिन्न होता है और सत्य होता है। इस प्रकार रज्जुसर्पस्थल में तीन सत्य पदार्थ स्वीकार करने पड़ते हैं, इसी प्रकार ब्रह्म में जिस जगत् का भ्रम होता है, उस जगत् को कहीं न कहीं सत्य मानना होगा। यदि कहीं भी सत्य जगत् को स्वीकार नहीं करेंगे तो 'ब्रह्म में प्रतीयमान जगत् मिथ्या है' इस प्रकार जगत् को मिथ्या नहीं कह सकते। यदि कहीं सत्य जगत् स्वीकार करते हैं तो 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यह सिद्धान्त खण्डित हो जायेगा। जिसे रज्जु में सर्प का भ्रम होता है, वह रज्जु से पृथक् होता है। इसी प्रकार जिसे ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है, उसे ब्रह्म से भिन्न मानना होगा और ऐसा होने पर जैसे भ्रमित पुरुष को अधिष्ठान रज्जु का ज्ञान होने पर, सर्पभ्रम के निवृत्त होने पर भी वह पुरुष रज्जु से पृथक् बना रहता है, वैसे ही भ्रमित पुरुष को ब्रह्म का ज्ञान होनेपर जगद्भ्रम की निवृत्ति होने पर भी वह पुरुष ब्रह्म से पृथक् बना रहेगा, ऐसा होने पर जीव और ब्रह्म की एकता भी सिद्ध नहीं होगी। अधिष्ठानके सामान्य अंश का ज्ञान, विशेष अंश का अज्ञान आदि भ्रम की सामग्री होने पर ही भ्रम होता है, यह सब मायावादियों के यहाँ संभव नहीं क्योंकि वे अधिष्ठानरूप चेतन को अंशरहित मानते हैं। अध्यस्त पदार्थ का ज्ञान कराने वाली इन्द्रिय से अधिष्ठान का ज्ञान होना भी आवश्यक होता है, जो कि जगत् के अधिष्ठान ब्रह्म का नहीं मानते। आकाश का इन्द्रिय-अग्राह्यत्व सर्वसम्मत न होने के कारण तथा आकाश पंचीकरण प्रक्रियाजन्य होने से सांश(सावयव) होने के कारण उसे दृष्टान्तरूप से नहीं कहा जा सकता है।

किसी अध्यारोपक(कल्पना का कर्ता) के न होने के कारण भी

जगत् को मिथ्या नहीं कहा जा सकता है क्योंकि निर्विशेषाद्वैती के मत में ब्रह्म सर्वथा कूटस्थ निर्विकार होने के कारण अध्यारोपक नहीं हो सकता है। अविद्या-उपहित ब्रह्म को भी अध्यारोपक नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा मानने पर चेतन ब्रह्म को ही अध्यारोपक मानना होगा, अविद्या तो आरोप में द्वारमात्र होगी। सभी अध्यारोप स्थल में चेतन देवदत्त आदि ही सर्प आदि के अध्यारोपक होते हैं। अविद्या तो अध्यारोप में द्वारमात्र होती है। किसी प्रकार ब्रह्म को अध्यारोपक स्वीकार करने पर उसमें अध्यारोपकत्व(अध्यारोपकर्तृत्व) रूप विकार भी मानना होगा, इससे निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्त भंग हो जायेगा। यदि कहा जाय कि अविद्या, अविद्याजन्य कल्पना तथा सुखदु:ख आदि कल्पित विकारों का अधिष्ठान ब्रह्म मान्य होने के कारण वह विकारी नहीं होता है। जैसे कल्पित सर्प से अधिष्ठान रज्जु विकारी नहीं होती है, तो दृष्टान्त विषम होने से यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि रज्जु अधिष्ठान से भिन्न देवदत्त आदि सर्प के कल्पक होने के कारण अधिष्ठान रज्जु में विकार नहीं होता है। मायावाद में ब्रह्म से भिन्न सब कल्पित होने के कारण वे कल्पक नहीं हो सकते, इसलिए ब्रह्म को ही कल्पक मानने पर वह विकारी ही होगा। इस प्रकार रज्जुसर्प दृष्टान्त से जगत् को मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। वस्तुत: रज्जुसर्प दृष्टान्त और स्वप्न दृष्टान्त से जगत् के मिथ्यात्व की कल्पना बौद्धों का ही अनुकरण है क्योंकि वे ही उन दृष्टान्तों से जगत् को मिथ्या स्वीकार करते हैं।

मिथ्यात्व का अर्थ सदसद्विलक्षणत्वरूप अनिवर्चनीयत्व करना भी उचित नहीं है क्योंकि जगत् में सदसद्विलक्षण पदार्थ ही अप्रसिद्ध है। कोई पदार्थ सत् होता है, कोई पदार्थ असत् । सदसद्विलक्षण कोई भी पदार्थ होता ही नहीं। जैसे सत्त्व और असत्त्व इन विरुद्ध धर्मों का एक आश्रय में रहना संभव नहीं है, वैसे ही सद्विलक्षणत्व और असद्विलक्षणत्व इन विरुद्ध धर्मों का भी एक आश्रय में रहना संभव नहीं अत: मिथ्यात्वका अर्थ सदसद्विलक्षणत्व नहीं हो सकता। निर्विशेषाद्वैतियों के अनुसार जगत् सदसद्विलक्षण है, इससे सदसद्विलक्षणरूप में जगत् सत् होता है तथा उन्हीं के अनुसार **नेह नानास्ति किंचन**(बृ.उ.4.4.19)

इत्यादि श्रुतियों से जगत् असद् सिद्ध होता है। इस प्रकार निर्विशेषाद्वैतवादी को जो जगत् सदसद्विलक्षणरूप में मान्य है, वह सदसद्रूप सिद्ध होता है अतः जगत् को सदसद्विलक्षणरूप मिथ्या मानना उचित नहीं है।

ब्रह्म ने संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ-**तदैक्षत बहु स्याम्।**(छां.उ.6.2.3), **सोऽकामयत बहु स्याम्।**(तै.उ.2.6.2), ब्रह्म ने स्वयं को जगद्रूप में किया-**तदात्मानं स्वयमकुरुत।**(तै.उ.2.7.1) इन श्रुतियों से तथा **आत्मकृतेः**(ब्र.सू.1.4.26) और **परिणामात्**(ब्र.सू.1.4.27) इन सूत्रों से परमात्मा का संकल्पपूर्वक बहुरूप अर्थात् जगद्रूप होना सिद्ध है। एक ब्रह्म बहुत रूपों में कैसे होता है? इस प्रश्न का 'ब्रह्म अपने संकल्प से नानारूप धारण करता है'-**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।**(बृ.उ.2.5.19) यह श्रुति उत्तर देती है। **माया वयुनं ज्ञानम्।**(नि.3.9) इस प्रकार वैदिक निघण्टु में माया शब्द का अर्थ ज्ञान किया गया है, ऐसा होने पर प्रस्तुत श्रुति में आये माया शब्द का अविद्या अर्थ करना शास्त्रसम्मत नहीं है। ब्रह्म का जगद्रूप होना उनके सत्यसंकल्प से सिद्ध है इसलिए जगत् सत्य है, वह अविद्या से सिद्ध नहीं है अतः मिथ्या नहीं है।

शंका-बृहदारण्यक में **द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे।**(बृ.उ.2.3.1) इस प्रकार प्रकरण का आरम्भ करके 'पृथिवी, जल और तेज मूर्त हैं, वायु और आकाश अमूर्त हैं।' ऐसा वर्णन करके उन मूर्त और अमूर्त पदार्थों को परमात्मा का रूप कहकर **अथात आदेशो नेति नेति।**(बृ.उ.2.3.6) इस प्रकार दोनों का निषेध करने से वह मूर्तामूर्तात्मक प्रपंच मिथ्या सिद्ध होता है।

समाधान-यह शंका उचित नहीं है क्योंकि मूर्तामूर्त प्रपंच तो प्रत्यक्ष से ज्ञात है किन्तु 'मूर्तामूर्त प्रपंच ब्रह्म का रूप है', इस प्रकार कही जाने वाली प्रपंच की ब्रह्मरूपता श्रुति को छोड़कर और किसी प्रमाण से ज्ञात नहीं है, केवल श्रुति से ज्ञात है। अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराने वाली श्रुति अपने कहे अर्थ का निषेध नहीं कर सकती है। कोई उन्मत्त पुरुष ही अपने कहे अर्थ का निषेध कर सकता है इसलिए **अथात आदेशो नेति नेति** यह श्रुति मूर्तामूर्तप्रपंच का निषेध नहीं करती है। वहाँ 'नेति नेति' के पश्चात् भी परमात्मा को 'सत्य का सत्य- **सत्यस्य सत्यम्**(बृ.उ.2.

3.6) कहा गया है, इससे सत्यत्व में तारतम्य होने पर भी किसी को मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। निरुपाधिक सत्य एक परब्रह्म ही है, अन्य पदार्थ सोपाधिक सत्य हैं।

शंका-अथात आदेशो नेति नेति यह श्रुति यदि प्रपंच का निषेध नहीं करती है तो किसका निषेध करती है?

समाधान-ब्रह्मसूत्रकार महर्षि वेदव्यास **प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः**(ब्र.सू.3.2.21) इस प्रकार स्वयं ही उक्त शंका का समाधान करते हैं। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है कि मूर्त और अमूर्त पदार्थों को ब्रह्म का रूप कहने पर 'ब्रह्म के इतने रूप हैं' इस प्रकार ब्रह्म के रूपों की जो इयत्ता(परिच्छिन्नता) प्राप्त होती है, उस इयत्ता का निषेध करने वाला **नेति नेति** यह श्रुति वाक्य है। ब्रह्म इन्हीं दो रूपों वाला है, यह बात नहीं है किन्तु इनसे भी अधिक रूपों वाला है। प्रस्तुत श्रुति वाक्य इस प्रकार है-**अथात आदेशो नेति नेति। न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति। अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम् इति। प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्।**(बृ.उ. 2.3.6) यहाँ 'इति' शब्द इयत्तारूप प्रकार का वाचक है। मूर्तामूर्त रूपों से प्राप्त इयत्तारूप प्रकार से युक्त ब्रह्म नहीं है, यह **अथात आदेशो नेति नेति** का अर्थ है। अब **न ह्येतस्माद् इति** इत्यादि वाक्य का अर्थ किया जाता है। **नेति**=इति न। इस प्रकार इयत्तारहित जिस ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है, उससे भिन्न वस्तु पर नहीं है अर्थात् ब्रह्म से अन्य कोई वस्तु स्वरूपतः और गुणतः उत्कृष्ट नहीं हैं। यहाँ ब्रह्म से अन्य के परत्व अर्थात् उत्कृष्टता का निषेध किया जाता है। अन्यमात्र का निषेध नहीं किया जाता है क्योंकि अन्यमात्र का निषेध मानने पर अन्यत् और परम् इनमें से अन्यतर पद व्यर्थ होने लगेगा क्योंकि वह निषेध तो इनमें किसी एक पद के द्वारा हो सकता है किन्तु श्रुति दोनों पदों का प्रयोग करती है। ब्रह्म को इयत्तारहित उत्कृष्ट मानने पर ही दोनों पद सार्थक होते हैं। **अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्** यह वाक्य इसी अर्थ का दृढ़ता से प्रतिपादन कर रहा है। यहाँ प्राण शब्द से चेतन जीव को कहा जाता है उसे प्रकृति के समान स्वरूपतः विकार से रहित होने के कारण सत्य कहा जाता है। परमात्मा के ज्ञान का कभी भी संकोच न होने से उसे 'सत्य का सत्य' कहा जाता है। जीव सत्य है, उससे

भी बढ़कर ब्रह्म सत्य है। सत्य का अर्थ होता है- निर्विकार वस्तु। जड़ पदार्थ के स्वरूप में विकार होता रहता है। जीव के स्वभाव बनने वाले धर्मभूतज्ञान में संकोच-विकासरूप विकार होता है किन्तु उसके स्वरूप में विकार नहीं होता, इसलिए जीव को सत्य कहा जाता है। ब्रह्म के स्वरूप और स्वभाव दोनों में विकार नहीं होता है, इसलिए उसे सत्य का सत्य कहा जाता है, इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि **अथात आदेशो नेति नेति** यह श्रुति जगत् का निषेध नहीं करती हैं, जिससे जगत् को मिथ्या माना जाए, यह तो ब्रह्म के रूपों की इयत्ता का निषेध करती है। श्रुति तथा सूत्र से विरुद्ध होने के कारण सिद्धान्त में रज्जुसर्पवत् जगत् का मिथ्यात्व मान्य नहीं है।

यह चराचर जगत् ब्रह्म ही है- **पुरुष एवेदं सर्वम्**(ऋ.सं.8.4.17, य.सं. 31.2,) इस ब्रह्म के एक अंश सभी प्राणी हैं- **पादोऽस्य विश्वा भूतानि**(ऋ.सं.8.4.17, य.सं.31.3), हे परंतप! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है- **नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।**(गी.10.40) विष्णुसहस्रनाम में परमात्मा का एक नाम 'अनन्तरूप' कहा गया है। इसलिए 'नेति नेति' श्रुति मूर्तामूर्त प्रपंचका निषेध नहीं करती है, वह तो इयत्ता का ही निषेध करती है।

शंका-प्रकृति को माया जानो तथा महेश्वर को मायापति जानो- **मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम्।**(श्वे.उ.4.10) यह श्रुति जगत् के उपादानकारण मिथ्या माया को कहती हैं अतः उसका कार्य जगत् भी मिथ्या है।

समाधान-यह शंका भी उचित नहीं क्योंकि मायापति ईश्वर प्रकृति नाम वाली माया से जगत् की सृष्टि करता है-**अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्।** (श्वे.उ.4.9) इस वाक्य में 'अस्मात्' पद के द्वारा उपादान माया से अचेतन जगत् की सृष्टि प्रस्तुत है। माया क्या है? जगत् का रचयिता मायी कौन है? ऐसी अपेक्षा होने पर **मायां तु** यह वाक्य प्रस्तुत होता है, इसके द्वारा माया शब्द के वाच्य त्रिगुणात्मक पदार्थ को उद्देश्य करके उसका प्रकृतित्व विधेय है और मायी (मायापति) को उद्देश्य करके उसका सर्वेश्वरत्व ही विधेय है। जगत् के उपादान का मिथ्यात्व विधेय नहीं है। विचित्र पदार्थ

की प्रतीतिमात्र के साधन मन्त्रादि को लोक में माया कहा जाता है। साधनानुष्ठानके अधीन मन्त्र की सिद्धि वाले किसी अपूर्ण जीव को मायी कहा जाता है, इस प्रकार असत्य पदार्थ की प्रतीतिमात्र के साधन को श्रुति माया शब्द से नहीं कहती किन्तु आश्चर्यमय, विविध, सत्य पदार्थों को उत्पन्न करने वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति को माया शब्द से कहती है। श्रुति में मायी शब्द से कोई अपूर्ण जीव नहीं कहा जाता है अपितु सर्वेश्वर ही मायी शब्द से कहे जाते हैं। महेश्वर शब्द से यह सूचित होता है कि मुक्त भी जगत् की सृष्टि नहीं कर सकता है।

रामायण में वर्णित मारीच के द्वारा रचित मायामृग भी मिथ्या नहीं है क्योंकि वह श्रीरामचन्द्र के बाणद्वारा मारा गया। यदि वह मिथ्या होता तो श्रीलक्ष्मण के 'नायं मृगः' इस वाक्यजन्य ज्ञान से ही निवृत्त हो जाता, तब बाण से मारने की आवश्यकता नहीं होती, वह मिथ्या नहीं था, अतः वाक्यजन्य ज्ञान से निवृत्त न होने के कारण बाण से मारा गया।

शंका-मायामृग तो वाक्यजन्य ज्ञानसे ही बाधित हो गया था। बादमें उसकी प्रतीतिमात्र हो रही थी। उसकी निवृत्ति के लिए ही बाण का प्रयोग किया गया।

समाधान-यह शंका उचित नहीं है क्योंकि 'बाधितानुवृत्ति' होने पर भी अध्यस्त पदार्थ दग्धपट के समान किसी कार्य का जनक नहीं हो सकता। यहाँ पर तो मायामृग का दौड़ना, श्रीरामचन्द्र को बहुत दूर ले जाना, जोर से बोलना आदि बहुत से कार्य 'नायं मृगः' इस बाधक ज्ञान के पश्चात् भी होते हैं, इससे सिद्ध होता है कि वह मिथ्या नहीं था, इस प्रकार निर्विशेषाद्वैतसिद्धान्तसम्मत मिथ्यात्व का कोई भी उदाहरण उपलब्ध नहीं होता।

शंका-विकार वाणी का आलम्बनमात्र है, नाममात्र है। मृत्तिका ही सत्य है-**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्**।(छां.उ.6.1.4) यह श्रुति जगत् को वाचारम्भण अर्थात् व्यावहारिक कहती है और उसके कारण को ही सत्य कहती है, अतः इस श्रुति से जगत् के सत्यत्व का निषेध होता है। वह व्यावहारिक जगत् मिथ्या ही है, सत्य नहीं।

समाधान-उक्त श्रुति के पूर्व ''जिसके श्रवण से अश्रुत विषय श्रुत हो जाता है''- **येनाश्रुतं श्रुतं भवति।**(छां.उ.6.1.3) यह प्रतिज्ञा वाक्य है। यदि इस श्रुति के द्वारा कारण ब्रह्म से भिन्न जगत् के मिथ्यात्व की प्रतिज्ञा की गयी हो तो यह माना जा सकता है कि 'वाचारम्भणम्' यह श्रुति जगत् के मिथ्यात्व का वर्णन करती है। पूर्वश्रुति तो एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा करती है, यह तभी संभव है, जब सब जगत् सत्य हो। जगत् का सत्यत्व स्वीकार न करने पर प्रतिज्ञा ही असिद्ध हो जाती है। वाचारम्भणम् श्रुति जगत् के मिथ्यात्वका वर्णन कर ही नहीं सकती क्योंकि वहाँ घटादि दृष्टान्त कहे गये हैं। यदि वह श्रुति मिथ्यात्व का वर्णन करती तो जिसका मिथ्यात्व निश्चित है, उसे ही दृष्टान्तरूप से कहना चाहिए। श्रुति उसका कथन न करके **यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन**(छां.उ.6.1.4) इस प्रकार घटादि विकारों का कथन करती है। इससे दृष्टान्त साध्य के अभाव वाला हो जाता है। यह दृष्टान्तानुपपत्ति बहुत बड़ा दोष है। यहाँ जगत् पक्ष है, मिथ्यात्व साध्य है, विकारत्व हेतु है और मिट्टी के विकार घटादि दृष्टान्त हैं। जिसमें पहले से साध्य का निश्चय होता है, उसे दृष्टान्त कहते हैं। श्वेतकेतु जिस प्रकार रज्जुसर्प को मिथ्या समझता है, उस प्रकार घटादि कार्यों को कभी भी मिथ्या नहीं समझ सकता। यदि घटादि विकारों को भी मिथ्या कहना इष्ट हो तो रज्जुसर्प का दृष्टान्तरूप से वर्णन करना चाहिए। मिट्टी के विकार घटादि का दृष्टान्तरूप से वर्णन नहीं करना चाहिए किन्तु श्रुति उनका दृष्टान्तरूप से वर्णन करती है, इससे सिद्ध होता है कि 'वाचारम्भणम्' श्रुति भी जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण नहीं करती, इसका विस्तृत व्याख्यान विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में सविशेष ब्रह्म के प्रसंग में देखना चाहिए।

शंका-जो पदार्थ प्रतीत होता है किन्तु वस्तुतः नहीं होता, वह मिथ्या माना जाता है। ब्रह्मभिन्न जगत् प्रतीत होता है किन्तु **सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।**(छां.उ.6.2.1) इस श्रुति के अनुसार नहीं होता इसलिए जगत् को मिथ्या मानना चाहिए।

समाधान-यह शंका उचित नहीं क्योंकि उक्त श्रुति जगत् का निषेध करती ही नहीं, वह अग्रे पद से पूर्वकाल को कहती है। 'सत्' शब्द विशेष्य

परमात्मा का वाचक होने पर भी जगत्कारणत्व प्रसंग में होने से जगत्कारण होने के लिए उपयोगी गुणों से विशिष्ट तथा प्रकृतिपुरुषकालशरीरक परमात्मा का बोध कराता है। आगे **तदैक्षत, बहु स्यां प्रजायेयेति।**(छां.उ. 6.2.3) इस प्रकार परमात्मा के संकल्प तथा बहुतरूप होने का वर्णन है। परमात्मा सर्वज्ञ होने से सत्यसंकल्प करता है और सर्वशक्तिमान् होने से बहुत रूपवाला होता है। इस प्रकार सत् शब्द से कहा गया परब्रह्म सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व गुणों से विशिष्ट सिद्ध होता है। जो चेतन जीव मुक्त नहीं हुए हैं, वे तथा अचेतन प्रकृति सूक्ष्मावस्था को प्राप्त होकर सृष्टि के पूर्वकाल में विद्यमान रहती हैं। **इदम्**-नामरूप के विभाग से युक्त प्रत्यक्ष दृश्यमान बहुत्व अवस्थावाला जगत् **अग्रे**-सृष्टि के पूर्व(नामरूपविभाग से रहित होने के कारण) **एकमेव**-एकत्व अवस्था को प्राप्त होकर ही **अद्वितीयम्**-अन्य निमित्तकारण से रहित **सदेव**-सद् शब्द का वाच्य एक ब्रह्म ही था। 'सदेव' यहाँ पर एव पद से उत्पत्ति के पूर्व जगत् के असत्(अविद्यमान) होने का निराकरण किया जाता है। 'एकमेव'[1] यहाँ पर एव पद से सृष्टि के पूर्व ब्रह्म की बहुत्व अवस्था का निराकरण किया जाता है। इसके पश्चात् **तदैक्षत, तत् तेजोऽसृजत।**(छां.उ.6.2.3) इस प्रकार तत् पद से सत् शब्द के वाच्य को ही निमित्तकारण कहा जाता है। 'अद्वितीयम्' पद के द्वारा अन्य निमित्तकारण का निषेध किया जाता है। 'सदेव' श्रुति यह प्रतिपादन करती है कि कार्य जगत् सृष्टि के पूर्व एक ब्रह्मरूप से विद्यमान था, वह जगत् के अभाव का प्रतिपादन नहीं करती। सृष्टि के पूर्वकाल में द्वितीय का अभाव मानने पर भी सृष्टि के पश्चात् उसका अभाव न होने से जगत् के मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होती। जिस प्रकार 'घट, शराव आदि सभी उत्पत्ति के पहले एक अद्वितीय मृत्पिण्ड ही थे। यह कथन घट, शराव आदि के मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं करता, उसी प्रकार 'यह सम्पूर्ण जगत् उत्पत्ति के पूर्व एक अद्वितीय ब्रह्म ही था' यह कथन जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं करता। सृष्टि के पूर्व

---

1. अचार्य शंकर 'एकमेव' का कार्यकोटि में आने वाली द्वितीय वस्तु का अभाव-**स्वकार्यपतितमन्यन्नास्ति** अर्थ करते हैं और 'अद्वितीयम्' पद का अर्थ निमित्तकारणान्तर का अभाव करते हैं, इस प्रकार उनके अनुसार भी उक्त श्रुति से निर्विशेष ब्रह्म सिद्ध नहीं होता अतः जगत् को मिथ्या भी नहीं माना जा सकता।

जगत् के असत्त्व के प्रतिपादन से उसकी अनित्यतामात्र सिद्ध होती है, मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता।

शंका- **नेह नानास्ति किंचन**(क.उ.2.1.11, बृं.उ.4.4.19) इस वाक्य के द्वारा सृष्टि के उत्तरकाल में भी जगत् के असत्त्व का प्रतिपादन होने से जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है।

समाधान-उक्त शंका उचित नहीं क्योंकि नानात्व का निषेध करने वाली श्रुति ब्रह्म के नानात्व(भेद) का निषेध करती है। ब्रह्म में भेद जैसा कुछ नहीं है- **नेह नानास्ति किंचन**। ब्रह्म एक ही है, अतः उसमें भेद हो ही नहीं सकता। इससे पूर्व के कठमन्त्रों में परमात्मा सब पर अनुग्रह करने वाले, मनुष्यों तथा देवताओं के आराध्य कहे गये हैं। देशभेद से और कालभेद से परमात्मा भिन्न-भिन्न होंगे। इस शंका का निराकरण करने के लिए **यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥** (क.उ.2.1.10) यह पूर्व मन्त्र प्रवृत्त होता है, इसे जगत् के मिथ्यात्व का बोधक मानना सभी प्रमाणों से विरुद्ध है। उक्त नानात्वनिषेध क श्रुति जगत् के असत्व का प्रतिपादन नहीं करती अतः उससे जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता। इस लोक में जो परमात्मा हम सबका आत्मा है, वह ही लोकान्तर में स्थित प्राणियों का भी आत्मा है, इस प्रकार सभी का आत्मा एक परमात्मा होने पर जो उस परमात्मा में भेद जैसा देखता है, वह संसार से संसार को प्राप्त होता है- **यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥** (क.उ.2.1.10) इसके पश्चात् ''हम सबका आत्मभूत एक परमात्मा विशुद्ध मन से ग्राह्य है''- **मनसैवेदम् आप्तव्यम्**। (क.उ.2.1.11) ऐसा कहकर सभी देश और सभी काल में एक ही ईश्वर विद्यमान है, इस पूर्वोक्त अर्थ को ही दृढ़ करने के लिए आगे **नेह नानास्ति किंचन, मृत्योस्स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति**।(क.उ.2.1.11) यह श्रुति उपस्थित होती है। **नेह नानास्ति किंचन** यह वाक्य जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं करता, यदि करता तो इसके पश्चात् 'तीनों कालों में विद्यमान प्रशासक परमात्मा उपासक के शरीर में अंगुष्ठमात्र परिमाणवाला होकर रहता है। भूतभविष्य का शासक होने के कारण अतिशय वात्सल्य होने से जीव के दोषों से घृणा

नहीं करता'- **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति, ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते।** (क.उ.2.1.12) इस प्रकार उपदेश करना व्यर्थ होता क्योंकि मिथ्यात्वबोध के पश्चात् मिथ्या वस्तु के उपदेश का कोई औचित्य नही रहता, इस विवरण से स्पष्ट है कि श्रुतियों से जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता ही नहीं।

अब्रह्मात्मक जगत् का निषेध

विनञ्भ्यां नानाञौ न सह (अ.सू.5.2.27) इस सूत्र के द्वारा नञ् शब्द से नाञ् प्रत्यय करने पर नाना शब्द निष्पन्न होता है। पृथक् अर्थ वाले वि और नञ् शब्दों से क्रमशः ना और नाञ् प्रत्यय होते हैं-**विनञ् इति एताभ्यामसहवाचिभ्यां नानाञौ भवतः**।(महाभाष्यम् 5.2.27) इस प्रकार महाभाष्यकार के अनुसार नाना का पृथक् अर्थ होता है। तब **इह**-जगत् में **नाना**-ब्रह्म से पृथक् (स्वतन्त्र) **किञ्चन**-कोई वस्तु **न**-नहीं है, यह उक्त श्रुति का अर्थ होता है। जैसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और इनके आश्रय द्रव्य भिन्न ही होते हैं, एक नहीं होता क्योंकि आधेय-आधार और विशेषण-विशेष्य भिन्न ही होते हैं, इनमें स्वरूप-एकता नहीं होती तथापि रूपादि अपने आश्रय से पृथक् नहीं रहते, अपृथक् ही रहते हैं। अपृथक् रहने के कारण ही उनसे विशिष्ट पदार्थ का अभेद होता है, वैसे ही चेतनाऽचेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् और उसका आश्रय ब्रह्म भिन्न ही है, एक नहीं तथापि वह ब्रह्म से पृथक् नहीं रहता, अपृथक् ही रहता है इसलिए उक्त श्रुति अब्रह्मात्मक अर्थात् स्वतन्त्र (पृथक्) वस्तु का ही निषेध करती है। चेतनाचेतन सभी पदार्थ ब्रह्म के शरीर हैं, शरीरी परमात्मा उसकी आत्मा है। बृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मण(बृ.उ.3.7) के अनुसार चेतनाचेतन सभी शरीरों में स्थित होकर नियमन करने वाला अन्तर्यामी परमात्मा है। **ब्रह्म आत्मा नियन्ता येषाम् ते ब्रह्मात्मकाः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्रह्म के द्वारा नियाम्य उनके शरीरभूत सभी पदार्थ ब्रह्मात्मक हैं, वे ब्रह्म से अपृथक् ही रहते हैं किन्तु अज्ञानी व्यक्ति ऐसा नहीं समझता, वह सभी को अब्रह्मात्मक (स्वतन्त्र) समझता है। **नेह नानास्ति किञ्चन्** यह श्रुति ऐसे अब्रह्मात्मक नाना वस्तुओं (भेदों) का निषेध करती है, शास्त्रसिद्ध ब्रह्मात्मक नाना वस्तुओं का निषेध नहीं करती अतः **मृत्योः स मृत्युं गच्छति** यह श्रुति वाक्य भी स्वतन्त्र भेददर्शन की ही निन्दा करता है,

ब्रह्मात्मक भेददर्शन की निन्दा नहीं करता। उक्त श्रुति बृहदारण्यकोपनिषत् (4.4.19) में भी उपलब्ध होती है। यह **नेह नानास्ति** श्रुति सबका निषेध नहीं करती क्योंकि सबका निषेध मानने पर **सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः एष सेतुर्विधरणः**।(बृ.उ.4.4.22) इस प्रकार आगे वर्णित ब्रह्म के सत्यसंकल्पत्व, सर्वेश्वरत्व, स्वामित्व और धारकत्वादि गुणों का वर्णन व्यर्थ होगा अतः वह अब्रह्मात्मक (स्वतन्त्र) वस्तु का ही निषेध करती है। चेतन और अचेतन सभी परमात्मा के शरीर हैं। इन सभी शरीररूप प्रकारों वाला एक परमात्मा ही सभी में स्थित है। अब्रह्मात्मक भेद इस एकता का विरोधी है अतः श्रुति इसका ही निषेध करती है। चेतनाऽचेतन सभी ब्रह्म के अपृथक्सिद्ध विशेषण हैं, इनसे विशिष्ट ब्रह्म का अद्वैत ही श्रुति-सूत्रप्रतिपादित है। चेतन आत्मा ब्रह्म का अंश है क्योंकि उसके भेद का प्रतिपादन है और विशिष्ट की एकता होने से अभेद का भी प्रतिपादन है। वेद की एक शाखा विशेष के अध्येता ब्रह्म को दाश, कितव आदि भी पढ़ते हैं-**अंशो नानाव्यपदेशाद् अन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके** (ब्र.सू.2.3.42)। इस प्रकार सविशेष ब्रह्म का अभेद ही ब्रह्मसूत्रकार को इष्ट है, इस रहस्य को न समझने के कारण ही जगत् को मिथ्या कह कर बौद्धसम्मत निर्विशेष वस्तु की कल्पना की जाती है।

ब्रह्मात्मक जगत्

हिरुङ् नाना च वर्जने (अ.को. 3.4.3) इस कोशवचन के अनुसार नाना का वर्जन अर्थात् विना अर्थ होता है, तब प्रस्तुत श्रुति का अर्थ होता है-इस जगत् में ब्रह्म के विना कोई वस्तु नहीं है। सब ब्रह्म के अविनाभूत हैं इसलिए ब्रह्म के विना अर्थात् उनको छोड़कर कोई वस्तु स्वतन्त्र नहीं रह सकती। श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है कि वह कोई चराचर वस्तु नहीं है, जो मेरे विना हो-**न तदस्ति विना यत्स्यान् मया भूतं चराचरम्**।(गी.10. 39) इस प्रकार अब्रह्मात्मक पदार्थ का ही निषेध किया जाता है, ब्रह्मात्मक जगत् का निषेध नहीं किया जाता, वह सत्य जगत् शास्त्रप्रमाण से सिद्ध है। इस विषय का पूर्व में 'अब्रह्मात्मक जगत् का निषेध' के निरूपण में प्रतिपादन किया गया है।

माण्डूक्योपनिषत् के किसी भी मन्त्र का एक भी पद प्रपंच का

मायाकल्पितत्व या मिथ्यात्व को नही कहता फिर भी इन मन्त्रों का व्याख्यान करने में प्रवृत्त **विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः। स्वप्नमायास्वरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता॥**(मां.का.7), **भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे। देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा॥**(मां.का.8) इन कारिकाओं में सृष्टि के विषय में विविध पक्ष कहे गये हैं। आचार्य शंकर के अनुसार **देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा** इससे कहे गये पक्ष को छोड़कर अन्य सभी पक्ष सृष्टिचिन्तकों के ही हैं, परमार्थचिन्तकों के नहीं, ऐसा कहकर मायावी ईश्वर से निर्मित होने के कारण सृष्टि के मिथ्यात्व का और इसी कारण उसके विचार का मुमुक्षु के लिये निष्प्रयोजनता का प्रतिपादन करके तुरीय निर्विशेष अद्वैत का चिन्तन ही मुमुक्षु के लिए आदरणीय है, ऐसा निर्धारण करके मिथ्या सृष्टि के परमार्थ कारण का अभाव होने से निर्विकार ब्रह्म का स्वभाव शब्द का वाच्य माया नामक पदार्थ ही सृष्टि की प्रतीति का हेतु है, ऐसा व्याख्यान किया है तथा मायावी ऐन्द्रजालिक का दृष्टान्त प्रदर्शित किया है और नवम कारिका के व्याख्यान के अन्त में **न हि रज्ज्वादीनाम् अविद्यास्वभावव्यतिरेकेण सर्पाद्याभासत्वे कारणं वक्तुम्** ऐसा कहते हुए श्रीशंकराचार्य ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि जैसे सर्प के आभास में अविद्या के विना रज्जु स्वतः कारण नहीं है, वैसे ही सृष्टि के प्रति ब्रह्म भी स्वतः कारण नहीं हैं, अविद्या से ही कारण है इसलिए सब माया से कल्पित है। क्या यही पूर्वोक्त माण्डूक्य मन्त्रों का अर्थ है? कदापि नहीं क्योंकि उन मन्त्रों में माया या मिथ्या के प्रसंग का लेश भी दिखायी नहीं देता और मायावी तथा रज्जुसर्पादि दृष्टान्त भी दिखायी नहीं देते, इससे स्पष्ट है कि बौद्धमत का आरोप करके श्रीगौडपादाचार्य ने जो कुछ कारिकाओं में कहा है, वह सब अस्वीकरणीय ही है।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिस्सर्वस्य। प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥(मां.उ.2.4) इस श्रुति के द्वारा चतुष्पाद ब्रह्म का वर्णन किया गया है, प्राज्ञ ब्रह्म का ही रूप होने से सर्वेश्वरत्वादि उसके भी धर्म हैं किन्तु उसमें निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार मायावी(जादूगर) की समानता का आरोप करके जो उसके मिथ्यात्व का कथन किया जाता है और सर्वज्ञता का बोधक प्राज्ञ शब्द का भी **नात्मानं न परांश्चैव**

न सत्यं नापि चानृतम्। प्राज्ञः किंचन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक् सदा॥(12) इस 12वीं कारिका से अज्ञत्व में पर्यवसान होता है। इस कारण **प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः, स एव प्राज्ञः** इस प्रकार **प्रज्ञादिभ्यश्च**(अ.सू.5.4.38) इस पाणिनीयसूत्र से स्वार्थ में अण् प्रत्यय करके होने वाली व्युत्पत्ति का अनादर किया जाता है और जो प्राज्ञ को अविद्या से युक्त कहकर उसकी सर्वज्ञता का अपलाप किया जाता है तथा जो **यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः**(मु.उ.1.1.7) इस मुण्डकश्रुति से भी कहे गये अक्षर परब्रह्म के भूतयोनित्व का भी मिथ्यात्व स्वीकार किया जाता है, वह सब अत्यन्त अनुचित है।

बौद्ध आचार्यों के द्वारा प्रदर्शित युक्तियों के द्वारा ही आधुनिक अद्वैती विद्वान् जगत्मिथ्यात्व सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं, इन कारणों से मायावादी प्रच्छन्न बौद्ध भी कहे जाते हैं। सूत्रकार महर्षि वेदव्यास ने ही स्वप्न दृष्टान्त से जगत् को मिथ्या सिद्ध करने वाले अनुमानों को "वैधर्म्य होने से जगत् स्वप्नादि के समान नहीं है"-**वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्**(ब्र. सू.2.2.29) इस सूत्र से निरस्त कर दिया है। स्वप्न के पदार्थ और जाग्रत के पदार्थों में अत्यन्त भेद होने के कारण स्वप्न के दृष्टान्त से जगत् को मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता। दृष्टान्तमात्र से यदि वस्तु की सिद्धि होती तो जाग्रत दृष्टान्त से स्वप्न के पदार्थ सत्य क्यों नहीं हो सकते? यदि कहें कि जाग्रतकाल में बाध होने से स्वप्न के पदार्थ सत्य नहीं हो सकते तो यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि जाग्रतकाल में भी 'मैंने स्वप्न का अनुभव नहीं किया' ऐसा कोई नहीं कहता। स्वप्न का अनुभव तो किया था किन्तु उसमें देखे गये पदार्थ नहीं हैं, ऐसा ही सबको अनुभव होता है। इससे स्वप्न के पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध होता है, यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि इसका अर्थ यह है कि स्वप्न के पदार्थ जाग्रतकाल में नहीं हैं, स्वप्न में स्वप्न के पदार्थों का अभाव नहीं हो सकता, इस कारण वे अल्पकालस्थायी सिद्ध होते हैं, मिथ्या सिद्ध नहीं होते। जो यह मानते हैं कि ब्रह्मज्ञान होने पर व्यवहार ही नहीं होता, उनका यह विचार ही अत्यन्त हास्यास्पद है कि ज्ञान से व्यवहार के विषय का बाध होता है। बाध होने पर ही विषय को मिथ्या कहा जाता है। बाध की सिद्धि न होने से मिथ्यात्व की भी सिद्धि नहीं हो सकती।

वेदों में ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति आदि सुनी जाती है। ब्रह्म कारणत्वेन और जगत् कार्यत्वेन सुना जाता है, मृद्घटादि दृष्टान्त भी सुने जाते हैं किन्तु लोक में कार्यकारण-भाव का निरूपण करना ही कठिन है, इसलिए वास्तविकता यह है कि 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' इस सिद्धान्त को किसी भी रीति से समझाने के लिए श्रुति रज्जुसर्पादि दृष्टान्त के अभिप्राय से मृद्घटादि दृष्टान्तों को कहती है, ऐसा जगत्मिथ्यात्ववादियों का मत है किन्तु श्रुतिप्रोक्त मृद्घट दृष्टान्त को मिथ्यात्व का समर्थक कोई नहीं मानता, वह जगत् की सत्यता का ही बोधक है। ब्रह्मसूत्रकार ने भी जगत् के मिथ्यात्व का निराकरण किया है इसलिए जगत्मिथ्यात्ववाद श्रुतिसूत्रविरुद्ध है।

निर्विशेषाद्वैती-मृत्तिकेत्येव सत्यम्(छां.उ.6.1.4) इस छान्दोग्यश्रुति से ही जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है, यह श्रुति कार्य का मिथ्यात्व सिद्ध करके एकमात्र कारण की सत्यता को सिद्ध करती है। इस प्रकार सबका कारण ब्रह्म सत्य एवं तद्भिन्न जगत् मिथ्या सिद्ध होता है।

सविशेषाद्वैती-यदि ऐसा है तो छान्दोग्य में तीनों दृष्टान्त वाक्यों से निर्दिष्ट मृत्तिका, लोहमणि और कार्ष्णायस इन कारणों को भी सत्य कहने से एक ब्रह्म ही कैसे सत्य हो सकता है?

निर्विशेषाद्वैती-हम मृत्तिका आदि में व्यावहारिक सत्यत्व मानते हैं।

सविशेषाद्वैती-तदेतत्सत्यम्(मु.उ.1.2.1तथा 2.1.1)इस प्रकार बहुत बार श्रुति के द्वारा कहा गया जगत् का सत्यत्व भी व्यावहारिक सत्यत्व है, यह मत श्रद्धेय नहीं है क्योंकि आपने बौद्धदर्शन में 'सांवृत्तिक' इस नाम से कहे गये व्यावहारिक सत्यत्व को बौद्धों से मिथ्यात्व के समान भिक्षा में प्राप्त किया है। लोक में तथा आर्ष ग्रन्थों में सत्यत्व के ऐसे त्रिविध भेद उपलब्ध नहीं होते। आपके मत में **जन्माद्यस्य यतः**(ब्र.सू.1.1.2) इस प्रकार सूत्रकार के द्वारा वर्णित ब्रह्म का 'जगत्कारणत्व' लक्षण भी मिथ्या ही है तथा **कारणं तु ध्येयः**(अ.शि.उ.2.17)इस प्रकार श्रुति से कहा गया मुक्ति का साधन ब्रह्म का ध्यान भी मिथ्या ही है, इस प्रकार सभी वेदान्तवाक्यों को कल्पित अर्थ का बोधक मानकर उनका अन्य अर्थ करना दुराग्रह ही है।

श्रीगौडपादाचार्य ने **आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा** (मां. का.4.31) इत्यादि कारिकाओं के द्वारा जो जगत् को मिथ्या सिद्ध करने का बहुलता से प्रयास किया है, वह उपनिषत् से सिद्ध नहीं है अपितु आरोप करके कहा गया है। प्रस्तुत उपनिषत् के अन्तर्गत प्रणव में तीनों मात्राओं का वैशिष्ट्य और अमात्रत्व इस प्रकार चार अंशों का प्रतिपादन किया गया है तथा प्रणव से प्रतिपाद्य ब्रह्म के चार पादों का निरूपण करके उन चारों की उपासना भिन्न-भिन्न फल प्रदान करने वाली कही गयी है। फल असत्य होने पर उपासना और फलों का प्रतिपादन करना संभव नहीं, इस विवरण से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण माण्डूक्योपनिषत् जगत् के मिथ्यात्व में लेशमात्र भी प्रमाण नहीं है।

श्रीशंकरभगवत्पाद से पूर्व श्रीगौड़पादाचार्य ने बौद्ध विद्वानों से जगत्-मिथ्यात्ववाद को ग्रहण करके प्रचारित किया। श्रीगौड़पादाचार्य से ही आरम्भ होकर कुछ वैदिक अद्वैतियों में भी जगद्मिथ्यात्ववाद स्वीकृत हुआ। इसे गौड़पाद की कारिकाओं द्वारा आसानी से समझा जा सकता है। जिस माण्डूक्योपनिषत् की व्याख्यारूप में कारिकाएं प्रवृत्त हुई हैं, उसमें जगत् के मिथ्यात्व का बोधक एक भी शब्द विद्यमान नहीं है। अन्य उपनिषदों में भी जगद्मिथ्यात्ववाद अत्यन्त दुर्लभ है, उनमें ब्रह्म का परिणामरूप जगत् कहा गया है। तत्वबोधक गीतादि ग्रन्थों में भी कहीं मिथ्यात्व का निरूपण नहीं है, इससे स्पष्ट है कि श्रीगौड़पादाचार्य ने बौद्धसिद्धान्त का वेदान्त में आरोप करके कारिकाओं में जो कहा है, वह सब विचारणीय ही है।

उपनिषदों को ऊषरभूमि प्रायः कहने वाले पूर्वमीमांसकों से असहमति व्यक्त करके सम्पूर्ण वेदों के प्रामाण्यस्थापन में प्रवृत्त हुए निर्विशेषाद्वैती विद्वान् उपनिषद्वाक्यों के व्याख्यान के बहाने 'यह सब मिथ्या है', इस प्रकार स्वयं बौद्धमत प्रचारित करते हैं। जगत्मिथ्यात्ववादी विद्वान् 'प्रमाणत्वेन इष्ट वेदशास्त्र मिथ्या हैं, शिष्याचार्य सम्बन्ध से प्रवर्तमान उपदेशपरम्परा मिथ्या है, उपदिष्ट मोक्ष का उपाय और उससे साध्य मोक्ष भी मिथ्या है' ऐसा कहने में कुछ भी संकोच नहीं करते। इस प्रकार स्वसिद्धान्त के प्रचार के बहाने सम्प्रदाय, सिद्धान्त और शिष्याचार्य-परम्परा आदि भेदों का ही

आश्रय लेने वाले वे सदा प्रवृत्ति में ही प्रवृत्त रहते हैं, निवृत्तिपथ का आश्रय नहीं ले पाते। इस प्रकार उनके वचन और आचरण में एकरूपता नहीं होती। श्रीयादवप्रकाशाचार्य ने इसी विषय में कहा है कि वेद मिथ्या हैं, बौद्धो के शास्त्र मिथ्या हैं। वेद और बौद्ध शास्त्रों का प्रामाण्य मिथ्या है, ज्ञाता मिथ्या है, ज्ञान और मोक्ष मिथ्या हैं, ऐसा मानने वाले जगत्मिथ्यात्ववादी निर्विशेषाद्वैती विद्वान् तथा बौद्ध एकसभा में बैठने योग्य हैं- **वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृतः प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम्। बोद्धाऽनृतो बुद्धि फले तथानृते यूयं च बौद्धाश्च समानसंसदः।**

जगत् का सत्यत्व

माण्डूक्यश्रुति आत्मा की जाग्रत, स्वप्न आदि अवस्थाओं का वर्णन करती हुई प्रणव के वाच्य परमात्मा की उपासना और उसके चार पादों के वर्णनपूर्वक उपासकों को प्राप्त होने वाले फलविशेष का कथन करती है, वह किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ को मिथ्या नहीं कहती, ऐसा होने पर जगन्मिथ्यात्व माण्डूक्यश्रुति से कैसे समर्थित हो सकता है? आत्मा के जागरितस्थान, स्वप्नस्थान और सुषुप्तिस्थान आदि भेदों का वर्णन करने वाली माण्डूक्यश्रुति के समान कठश्रुति **स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति**(क.उ.2.1.4) इस प्रकार आत्मस्वरूप का सुन्दर रीति से प्रतिपादन करके बहुत बार **एतद् वै तत्** इस प्रकार अन्त में सबका उससे तादात्म्य निरूपण करते हुए किसी का भी मिथ्यात्व नहीं कहती है अपितु मध्य में अनेक बार **तदेतत्सत्यम्** (मु.उ.1.2.1, 2.1.1) इस प्रकार कहकर प्रकरणों का आरम्भ करने वाली मुण्डकश्रुति **मन्त्रेषु कर्माणि**(मु.उ.1.2.1) तथा **यथा सुदीप्तात् पावकात्** (मु.उ.2.1.1) इत्यादि वाक्यों से अपूर्व विविध सृष्टि आदि भेदों का विस्तार से वर्णन करते हुए उन सबको सत्य ही कहती है, मिथ्या नहीं कहती। श्रुति में ब्रह्मेतर का मिथ्यात्व कहीं भी नहीं कहा गया है बल्कि **तदेतत्सत्यम्** इस प्रकार सत्यत्व ही कहा गया है।

प्रपञ्च सत्य है, भासमान होने से- **प्रपञ्चः सत्यः भासमानत्वाद् आत्मवत्।** प्रपञ्च सत्य, है, असद्भिन्न होने से- **प्रपञ्चः सत्यः असद्भिन्नत्वाद् आत्मवत्।** जिस प्रकार आत्मा भासमान और असद् से

भिन्न होने के कारण सत्य है, उसी प्रकार प्रपञ्च भी भासमान और असत् से भिन्न होने के कारण सत्य है। प्रपञ्च को शंकाकार भी असद्विलक्षण मानता है, अतः उसे भी पक्ष में असद्भिन्नत्व हेतु मान्य है। इन अनुमानों से भी जगत् का सत्यत्व सिद्ध होता है।

विवर्तवाद

हे सोम्य! यह जगत् सृष्टि के पूर्वकाल में एक अद्वितीय सत् ही था-**सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्।**(छां.उ.6.2.1) इस श्रुति के अनुसार प्रलयकाल में सत् शब्द का वाच्य एक अद्वितीय ब्रह्म ही था। यहाँ 'एकम्' 'एव' और 'अद्वितीयम्' इन पदों के द्वारा सकल भेद का निषेध होने से ब्रह्म निर्विशेष सिद्ध होता है। **तदैक्षत बहु स्याम्।**(छां.उ.6.2.3) यह श्रुति संकल्पमात्र से जगत्सृष्टि का निरूपण करती है और **उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्नक्षीरवद्धि** (ब्र.सू.2.1.24) तथा **विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्**(ब्र.सू.2.1.31)ये सूत्र भी ब्रह्म से भिन्न कारण का निषेध करते हैं। परन्तु निर्विकार तत्त्व से विविध-विचित्र जगत् की उत्पत्ति कैसे सम्भव हैं? इस प्रकार बौद्ध आक्षेप करते हैं। वेदों पर श्रद्धा न रखने वाले बौद्धदार्शनिक 'यह ब्रह्मोपदेश श्रद्धालुओं के लिए है, हम तो युक्ति से समाधान चाहते हैं।' इस प्रकार वैदिकों का उपहास करते हैं। यद्यपि परिणामवाद का आश्रय लेकर बीजवृक्षन्याय से एक कारण ब्रह्म के बहुत कार्यरूप होने का समर्थन किया जा सकता है तथापि ऐसा करने पर ब्रह्म के विकारित्व की प्राप्ति होती है अतः जगत् को मिथ्या मानने पर उक्त आक्षेप का समाधान हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म के निर्विकारत्व की सिद्धि के लिए जगत् का मिथ्यात्व स्वीकार करके ही ब्रह्म का उपादानकारणत्व स्वीकार किया जा सकता है, ऐसा विवर्तवादी आचार्य मानते हैं।

विवर्तवाद में त्रिविध सत्ता स्वीकृत है- ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता। मिट्टी और घटादि पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता। रज्जुसर्प और शुक्तिरजतादि पदार्थों की प्रातिभासिक सत्ता। पारमार्थिक सत्ता वाले पदार्थ का कभी भी बाध नहीं होता। व्यावहारिक पदार्थ का ब्रह्मसाक्षात्कार से बाध होता है और प्रातिभासिक पदार्थों का व्यवहारकाल में बाध होता है। उपादान के समान

सत्ता वाले कार्य का होना परिणाम तथा उपादान से विषम सत्ता वाले कार्य का होना विवर्त कहलाता है-**परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः, विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः** (वे.प.)। मिट्टी और घट दोनों व्यावहारिक सत्ता वाले हैं, अतः उपादान व्यावहारिक मिट्टी का उसके समान व्यावहारिक घटरूप होना परिणाम कहा जाता है। रज्जु व्यावहारिक सत्ता वाली है और सर्प प्रातिभासिक सत्ता वाला है। रज्जु का अपने से विषम सत्ता वाला सर्परूप होना विवर्त है, वैसे ही जगत् ब्रह्म का विवर्त है और ब्रह्म के आश्रित रहने वाली अविद्या का परिणाम है अतः जगत् का विवर्ती उपादानकारण ब्रह्म तथा परिणामी उपादानकारण अविद्या को कहा जाता है। विवर्त की कल्पना निर्विशेष ब्रह्म से सत्य जगत् की उत्पत्ति संभव न होने के कारण की जाती है।

घटः सन्, पटः सन्(घट है, पट है) इत्यादि अनुभवों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि सभी कार्यों में सत् अनुस्यूत है। कार्यो में उपादान कारण ही अनुस्यूत होता है इसलिए सत् ही जगद्रूप कार्य का उपादान कारण है। यह सत् ब्रह्मरूप ही है क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त सभी पदार्थ कार्य होने से असत् अर्थात् मिथ्या हैं। ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष, निराकार, कूटस्थ है इसलिए ब्रह्म जगत् का उपादान नहीं हो सकता क्योंकि जो पदार्थ कार्यरूप में परिणत हो, वह ही जगत् का उपादानकारण होता है। फिर भी माया(अविद्या) द्वारा निर्विकार, कूटस्थ, सद्रूप ब्रह्म जगत् का अधिष्ठानरूप विवर्ती-उपादानकारण सिद्ध होता है।

निराकरण-सद्विद्या आदि में कार्य और कारण के अभेद का निर्देश किया गया है। वहाँ अभेदनिर्देशपूर्वक एक के विज्ञान से सर्व के विज्ञान की प्रतिज्ञा तथा मृद्घट दृष्टान्त कहा गया है। निर्विशेषाद्वैती के मतानुसार ब्रह्म में रज्जुसर्प के समान सम्पूर्ण जगत् कल्पित है किन्तु ऐसा मानने पर सृष्टि का ही अभाव होने से यद्यपि उसके उपादानकारणत्व और निमित्तकारणत्व का विचार ही व्यर्थ है, फिर भी वे लोक में रज्जुसर्पस्थल में भी विलक्षण सर्प की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। यदि सर्प उत्पन्न होता है तो सभी को क्यों नहीं दिखाई देता? क्यों नहीं काटता? दण्डप्रहार के विना कैसे मर जाता है? ये आक्षेप प्राप्त होते हैं। 'यह विलक्षण सर्प है' इस वाद से उक्त

आक्षेपों का परिहार हो जाता है। यदि सर्प उत्पन्न नहीं होता तो आँख से कैसे दिखाई देता? इस पर यह प्रश्न होता है कि रज्जु में जो सर्प की उत्पत्ति होती है क्या वह परमार्थ(सत्य) है? अथवा कल्पित है? इनमें प्रथम पक्ष युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि अपरमार्थ सर्प की उत्पत्ति परमार्थ नहीं हो सकती। यदि कहना चाहें कि यहाँ सर्प का आद्य क्षण के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह उत्पत्ति है और वह परमार्थ है तो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि आद्य क्षण के साथ सम्बन्धरूप उत्पत्ति को परमार्थ मानने पर उत्तरोत्तर क्षण के साथ सम्बन्धरूप स्थिति को भी परमार्थ मानना होगा। ऐसा होने पर सर्प का दण्ड से नाश ही होगा, ज्ञान से बाध नहीं होगा। द्वितीय कल्पित पक्ष को स्वीकार करने पर यह प्रश्न होता है कि ''यह सर्प है'' इस प्रकार जिसे भ्रम होता है क्या उस पुरुष की यह कल्पना है? अथवा परीक्षक निर्विशेषाद्वैती की कल्पना है? इनमें प्रथम पक्ष उचित नहीं है क्योंकि अभी सर्प उत्पन्न हुआ है, ऐसा वह नहीं जानता बल्कि पूर्व से ही विद्यमान सर्प को जानता है, इसलिए उस समय ही उत्पत्ति मानना उचित नहीं। द्वितीय पक्ष में तो 'रज्जु में अनिर्वचनीय सर्प का अभाव होने पर भी निर्विशेषाद्वैती स्वयं कल्पना करते हैं' यह मानना होगा। इस प्रकार रज्जु में कल्पित सर्प की उत्पत्ति अप्रामाणिक ही सिद्ध होती है, इसी प्रकार ब्रह्म में कल्पित जगत् की उत्पत्ति भी अप्रामाणिक सिद्ध होती है अतः जगत् को ब्रह्म का विवर्त नहीं कहा जा सकता है।

परिणामवाद

परिणामात्(ब्र.सू.1.4.27) इस सूत्र में परिणाम शब्द परिणामवाद को कहता है या विवर्तवाद को? यह सन्देह उपस्थित होता है। इसका निराकरण श्रुतिकथित मृत्तिका तथा लोहमणि दृष्टान्त से हो जाता है, ये दृष्टान्त परिणामवाद के ही समर्थक हैं, विवर्तवाद के समर्थक नहीं। विवर्तवाद के समर्थक तो रज्जुसर्पादि दृष्टान्त होते हैं, वे श्रुतिकथित नहीं हैं। यह पूर्व में कहा गया है कि निर्विशेषाद्वैती विद्वान् निर्विशेष ब्रह्म से सत्य जगत् की उत्पत्ति संभव न होने के कारण विवर्तवाद स्वीकार करते हैं किन्तु श्रुतिसूत्रों का तात्पर्य निर्विशेष ब्रह्म के प्रतिपादन में नहीं है, ऐसी स्थिति में उससे मिथ्या जगत् की उत्पत्ति के लिए माना गया विवर्तवाद भी

श्रुतिसूत्रसम्मत नहीं हो सकता।

श्रुति के द्वारा एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा होने से भी विवर्तवाद सिद्ध होता है, यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि विवर्तवाद स्वीकार करने पर एक के ज्ञान से सबका बाध होता है, एक के ज्ञान से सबका ज्ञान नहीं होता। परिणामवाद स्वीकार करने पर ही एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा संभव होती है। विवर्तवादी के द्वारा किया गया प्रतिज्ञावाक्य का अर्थ लक्षणादि दोषों से युक्त होने के कारण त्याज्य है। **आत्मकृ तेः**(ब्र.सू.1.4.26) तथा **परिणामात्**(ब्र.सू.1.4.27) इन दो ब्रह्मसूत्रों के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि परिणामवाद ही सूत्रकार का अभिमत है, ऐसा होने पर **आरम्भणाधिकरण**(ब्र.सू.2.1.6) को भी परिणामवाद का ही समर्थक मानना चाहिए। इस अधिकरण के बाद के अधिकरण भी परिणामवाद के ही अनुकूल हैं। आरम्भणाधिकरण में भी प्रथम सूत्र से परवर्ती सभी सूत्र परिणामवाद से ही सम्बन्ध रखते हैं, इस अधिकरण के प्रथमसूत्र में सूत्रकार को यदि विवर्तवाद मान्य है तो उत्तरसूत्र व्यर्थ ही होते हैं। यदि कोई ऐसा कहे कि सूत्रकार परिणामवाद के समर्थक हैं, फिर भी उपनिषद् विवर्तवाद की समर्थक हैं, यह कथन अत्यन्त हास्यास्पद है क्योंकि उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय का निर्णय करने के लिए ही महर्षि वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र का प्रणयन किया है इसलिए परिणामवाद और विवर्तवाद इन दोनों में प्राचीन वेदान्ती छान्दोग्य में कहे गये मृद्घट आदि दृष्टान्त और **परिणामात्** इस सूत्र से सिद्ध परिणामवाद को ही स्वीकार करते आये हैं। ब्रह्मसूत्र के सर्वप्रथम टीकाकार आचार्य उपवर्ष बोधायन ने परिणामवाद का आश्रय लेकर उस पर वृत्ति की रचना की थी। इस विषय का श्रीरामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य के आरम्भ में ही श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया है। श्रीशंकराचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र(3.3.53)के भाष्य में पूर्वोत्तरमीमांसा पर वृत्ति लिखने वाले उपवर्ष का उल्लेख किया है।

विज्ञानविवर्तवाद और शून्यविवर्तवाद का निराकरण करने वाले श्रीशंकराचार्य को बौद्धप्रक्रिया कैसे मान्य हो सकती है? बौद्धप्रक्रिया का आश्रय लेने वाले आधुनिक निर्विशेषाद्वैती विद्वानों को प्रच्छन्न बौद्ध कहे जाने पर 'हम प्रच्छन्न बौद्ध नहीं हैं, बौद्ध ही प्रच्छन्न वेदान्ती हैं' ऐसा

उनके कहने से प्राप्त दोष का परिहार नहीं होता अपितु दोनों का समान अभिप्राय ही व्यक्त होता है। वस्तुतः शंकरभगवत्पाद ने परिणाम पद के स्थान में विवर्त पद का प्रयोग करके परिणामवाद को दूषित करने वाले बौद्धों को विमोहित करके वैदिक मत की प्रतिष्ठा की किन्तु वे तत्कालिक समाज की परिस्थितिवशात् स्पष्टरूप से तत्त्व का प्रतिपादन नहीं कर सके। बौद्धों ने भिन्न-भिन्न शब्दों से जीव तत्त्व को स्वीकार करके ब्रह्म तत्त्व का निराकरण किया। श्रीशंकराचार्य ने ब्रह्मतत्त्व को स्वीकार करके समयानुरूप बौद्धों को कथंचित सान्त्वना प्रदान करने के लिए अतिरिक्त जीव का निराकरण किया। भर्तृप्रपंच आदि प्राचीन आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मपरिणामवाद में बौद्धों के द्वारा दोषारोपण करने पर विवर्तवाद के प्रदर्शन से श्रीशंकराचार्य ने मध्यस्थ जैसी भूमिका का निर्वाह किया।

परिणामात्(ब्र.सू.1.4.27) इस सूत्र के भाष्य में श्रीभास्कराचार्य ने विवर्तवाद के खण्डनप्रसंग में प्राचीन सम्प्रदायपरम्परा से प्राप्त ग्रन्थों का इस प्रकार उल्लेख किया है-श्रुति का अनुकरण करने वाले सूत्रकार वेदव्यास ने परिणामपक्ष के समर्थक सूत्रों का निर्माण किया। इस सम्प्रदायप्राप्त सिद्धान्त का छान्दोग्य की व्याख्या में वृत्तिकार और वाक्यकार ने आश्रय लिया। ब्रह्म का परिणाम जगत् है, दध्यादिके समान- **सूत्रकारः श्रुत्यनुकारी परिणामपक्षं सूत्रयाम्बभूव। अयमेव छान्दोग्ये वाक्यकारवृत्तिकाराभ्यां सम्प्रदायमतः समाश्रितः तथा च वाक्यम्-परिणामस्तु स्याद् दध्यादिवदिति।**(ब्र.सू.भा.भा.1.4.25) इस प्रकार वाक्यकार ब्रह्मसूत्र के किसी भी अधिकरण को जगन्मिथ्यात्व का समर्थक नहीं मानते। भास्करभाष्य के प्रस्तुत प्रसंग में ही शांकरमत को महायानिक बौद्धमत के द्वारा निर्मित मायावाद का वर्णनरूप कहा गया है[1]। भास्कराचार्य छान्दोग्य की वृत्ति से भी परिचित थे। इस प्रकार विशिष्टाद्वैती वेदान्तियों के द्वारा स्वमत के समर्थन और परमत के निराकरण के लिए वृत्ति ग्रन्थ और वाक्य ग्रन्थ को प्रस्तुत करना उचित ही है। शांकरमत के परवर्ती आचार्यों के द्वारा

---

1. **विगीतं विच्छिन्नमूलं महायानिकबौद्धगाथितं मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान व्यामोहयन्ति।** (ब्र.सू.भा.भा.1.4.25)

'परिणामात्' सूत्र का विवर्तात् अर्थ करना स्वमत के पोषक प्रमाणवचनों के दुर्भिक्ष से जन्य है। भामतीकार भास्करमत का खण्डन करते हैं। क्षुभित हृदयवाले कल्पतरुकार अप्पयदीक्षित 'भास्करस्तु बभ्राम' इस प्रकार भास्कर की निन्दा करते हैं किन्तु वे वाक्यकार के वचन का अपलाप नही करते, वे वाक्यग्रन्थ के वचनान्तरको उद्धृत करके जगदनिर्वचनीयत्व की स्थापना के लिए प्रकारान्तर से अर्थ करते हैं, वह भी उचित नहीं है क्योंकि वाक्यकार ने स्वयं परिणामवाद का समर्थक दधि दृष्टान्त दिया है अतः इस पक्ष का समर्थक ही वचनान्तर है, वह अनिर्वचनीयवाद का समर्थक नहीं हो सकता।

माण्डूक्य का प्रतिपाद्य सविशेष ब्रह्म

माण्डूक्योपनिषत् परमात्मा का बोधक है, आत्मा का नहीं। इसमें **वैश्वानरः प्रथमः पादः**।(मां.उ.1.1) इस प्रकार विश्व शब्द के स्थान में पठित वैश्वानर शब्द 'विश्वान् नरान् नयति' इस व्युत्पत्ति से परमात्मा का बोधक है। सुषुप्तिदशा में प्राज्ञ (सर्वज्ञ) ब्रह्म से आलिङ्गित जीव बाहर के घटादि पदार्थों को नहीं जानता और अन्दर के शोक-मोहादि को भी नहीं जानता-**अयं पुरुष प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्।** (बृ.उ.4.3.21) यह बृहदारण्यक श्रुति बाह्य और आन्तरिक पदार्थों के ज्ञान से रहित जीवात्मा का 'पुरुष' शब्द से पृथक् निर्देश करती है अतः उसका आलिङ्गन करने वाला परमात्मा ही यहाँ माण्डूक्यमन्त्र में भी प्राज्ञ शब्द से प्रतिपादित है। जब प्रथम और तृतीय पादों के बोधक 'विश्व' और 'प्राज्ञ' शब्द ब्रह्म के वाचक हैं तो द्वितीय पाद का बोधक तैजस शब्द भी ब्रह्म का ही वाचक है।

श्रुतिप्रतिपाद्य ब्रह्म सविशेष ही है, निर्विशेष नहीं। श्रुतियों के प्रतिपाद्य अर्थ का निर्णय करने के लिए ही महर्षि वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र का प्रणयन किया, उसमें **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**(ब्र.सू.1.1.1) इस प्रथम सूत्र से ब्रह्म को जिज्ञास्य कहा, इसके पश्चात् **जन्माद्यस्य यतः**(ब्र.सू.1.1.2) इस प्रकार 'जगज्जन्मादिकारणत्व' ब्रह्म का लक्षण कहा, इससे श्रुतिप्रतिपाद्य ब्रह्म सविशेष ही सिद्ध होता है। अन्य उपनिषदों के समान प्रस्तुत माण्डूक्योपनिषत् का प्रतिपाद्य ब्रह्म सविशेष ही है, निर्विशेष नहीं।

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञम् (मां.उ.2.5) यह मन्त्र परमात्मा के चतुर्थ पाद का विस्तार से वर्णन करता है, इसके अन्तिम में **प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते। स आत्मा। स विज्ञेयः**, यह अंश विद्यमान है, यही मन्त्र प्रधानता से निर्विशेष अद्वैत तत्त्व का बोध कराता है, यह निर्विशेषाद्वैतवादियों की महती भ्रान्ति है।

शंका-इस मन्त्र में प्रयुक्त **अदृष्टम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्, ऐकात्म्यप्रत्ययसारम्** इत्यादि पद दृष्टत्वादि विशेषणों के निषेधमुख से निर्विशेष स्वरूप के ही बोधक होते हैं। ज्ञानेन्द्रिय से अग्राह्य, हानोपादादि व्यवहार के अयोग्य, कर्मेन्द्रिय से अग्राह्य, लिङ्ग से अननुमेय, मन से भी अचिन्त्य, प्रवृत्तिनिमित्तरूप धर्म का अभाव होने से शब्द का अवाच्य एक आत्मा ही परमार्थ है इसलिए साररूप एक निर्विशेष अद्वैत है, यह श्रुतिवाक्य का अर्थ निष्पन्न होता है तो हमें भ्रान्ति कैसे हो सकती है?

समाधान-जातिगुणादिधर्मरूप प्रवृत्तिनिमित्त के होने पर ही शब्द अन्वयमुख से किसी विषय का प्रतिपादन करता है किन्तु उस प्रवृत्तिनिमित्त का अभाव होने से निर्विशेष ब्रह्म का शब्दद्वारा अन्वयमुख से प्रतिपादन नहीं हो सकता अतः श्रुति निषेधमुख से उसका प्रतिपादन करती है, यही आपका आशय है तो इस मन्त्र के अन्तिम में **स आत्मा स विज्ञेयः** इस प्रकार क्या कहा जाता है? यह 'आत्मा' शब्द क्या प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर अपने अर्थ का बोधक है? अथवा उसे छोड़कर? प्रथम पक्ष में उस प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर ही ब्रह्म के सविशेषत्व की प्राप्ति होती है और निर्विशेषाद्वैतवादी के द्वारा किये गये 'अव्यपदेश्यम्' पद के व्याख्यान से व्याघात दोष भी प्राप्त होता है। द्वितीय पक्ष में ब्रह्म को आत्मा शब्द से ही क्यों कहा जाता है? जड शब्द से क्यों नहीं कहा जाता? प्रवृत्तिनिमित्त को छोड़ने पर दोनों में कोई विशेषता नहीं होती अतः उसे जड शब्द से भी कहना चाहिए और उसे अचिन्त्य मानने पर **स विज्ञेयः** इस प्रकार कहा गया उसका विज्ञेयत्व भी संभव नहीं, तब **जन्माद्यस्य यतः**(ब्र.सू.1.1.2) इस सूत्र से कहा गया जगज्जन्मादिकारणत्व लक्षण कैसे संभव होगा? और **शास्त्रयोनित्वात्**(ब्र. सू.1.1.3) यह कथन भी कैसे संभव होगा? अतः श्रुति और सूत्रकार का

असम्मत जगत्मिथ्यात्व को अस्वीकार करके मूलोच्छेद न करते हुए श्रुतिप्रमाणवादियों को श्रुति का अर्थ करना चाहिए और ऐसा करने पर ब्रह्म सविशेष ही सिद्ध होगा, निर्विशेष सिद्ध नहीं होगा।

शंका-तुरीय आत्मा का निरूपण करने वाले प्रस्तुत मन्त्र में स्थित अद्वैत पद स्पष्टरूप से द्वैत प्रपंच का निषेध करता है। द्वैत का निषेध करने पर जो एक तत्त्व श्रुति के द्वारा **एकमेवाद्वितीयम्** (छां.उ.6.2.1)इस प्रकार निर्धारित है, वह निर्विशेषाद्वैत ही परमार्थ है।

समाधान-भेद दो प्रकार का होता है-ब्रह्मात्मक और अब्रह्मात्मक। इनमें श्रुतिसिद्ध ब्रह्मात्मक भेद सत्य है, मिथ्या नहीं। इसका पूर्व में 'अब्रह्मात्मक जगत् का निषेध' के निरूपण में प्रतिपादन किया गया है। इस भेद को ध्यान में रखकर ही अद्वितीय श्रुति का व्याख्यान करना चाहिए। **सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्** (छां.उ.6.2.1)इस अद्वितीय श्रुति की पूर्व में 'जगत्मिथ्यात्व का निराकरण' प्रसंग में व्याख्या की जा चुकी है, इससे जगत्मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होती अतः उससे प्रतिपाद्य अद्वैत सविशेषाद्वैत ही है, निर्विशेषाद्वैत नहीं। इस विवरण से ''प्रस्तुत माण्डूक्योपनिषत् में 'एक ही तत्त्व है' ऐसा न कहने पर भी यहाँ **शान्तं शिवमद्वैतम्** (मां. का.2.5)इस प्रकार कहा गया 'अद्वैत' पद भेद का मिथ्यात्व होने से निर्विशेष अद्वैत का ही बोधक है, इसे अद्वितीय पद का प्रयोग करके एकता को कहने वाली **सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्** (छां.उ. 6.2.1)यह श्रुति स्पष्ट करती है'' यह कथन भी खण्डित हो जाता है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि श्रुतियों से जगत्मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होती इसलिए कारिकाकार श्रीगौडपाद युक्ति से मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए वैतथ्य प्रकरण के निर्माण में प्रवृत्त होते हैं, इसे वैतथ्यप्रकरण की अवतरणिका में श्रीशंकराचार्य ने इस प्रकार कहा है कि **एकमेवाद्वितीयम्** (छां.उ.6.2.1) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार पहले आगमप्रकरण में कहा गया था कि अद्वैत को जान लेने पर द्वैत नहीं रहता, पर वह तो केवल आगम प्रमाण था। युक्तियों से भी द्वैत का मिथ्यात्वनिश्चय कराया जा सकता है इसलिए अब **वैतथ्यं सर्वभावानाम्** इत्यादि से प्रकरण आरम्भ किया जाता है- **ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्युक्तम् एकम्**

एवाद्वितीयमित्यादिश्रुतिभ्यः, आगममात्रं तत्। तत्रोपपत्त्याऽपि द्वैतस्य वैतथ्यं शक्यतेऽवधारयितुमिति द्वितीयं प्रकरणमारभ्यते-'वैतथ्यम्' इत्यादिना। यदि श्रुति ही जगत् के मिथ्यात्व को कहती तो पुनः युक्ति से समझाने की अपेक्षा नहीं रहती। यदि कहना चाहें कि जगत्मिथ्यात्व श्रुति से सिद्ध है, उसे ही युक्ति से सिद्ध करने के लिए नूतन प्रकरण का आरम्भ किया गया है तो यह कथन भी उचित नहीं क्योकि किसी भी श्रुति से मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होती, इस विषय का पूर्व में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है, इस विवरण से यह स्पष्ट है कि श्रुति से जगत्मिथ्यात्व का प्रतिपादन न होने के कारण ही उसके लिए युक्तियों की अपेक्षा रहती है, यह तथ्य पुनः वैतथ्य प्रकरण के आरम्भ से ज्ञात होता है। भगवत्पाद शंकर का उक्त अवतरणिकावाक्य गम्भीरता से विचार करने योग्य है, उन्होंने श्रुतियों से जगत्मिथ्यात्व की सिद्धि को असंभव मानकर ही **आगममात्रं तत्** इस कथन से उसमें (श्रुतियों से जगत्मिथ्यात्व की सिद्धि में) अविश्वास प्रदर्शित करते हुए ही **तत्रोपपत्त्याऽपि द्वैतस्य वैतथ्यं शक्यतेऽवधारयितुमिति द्वितीयं प्रकरणमारभ्यते** यह कहा है, यही उक्त अवतरणिकावाक्य का आशय है।

शांकरभाष्य में उद्धृत जगत् के मिथ्यात्व का बोधक **ज्ञाते द्वैतं न विद्यते**(मां.का.18) यह किसका वचन है? माण्डूक्य श्रुति का नहीं अपितु गौडपादाचार्य का है, उनका उक्त कारिकावचन प्रमाण है? ऐसी शंका होने पर कारिकाओं से बढ़कर **एकमेवाद्वितीयम्** इत्यादि श्रुतियाँ ही प्रमाण हैं, यह समाधान होता है, वस्तुतः **ज्ञाते द्वैतं न विद्यते** यह वाक्य जगत् के मिथ्यात्व का बोधक नहीं है क्योंकि यहां द्वैत का अर्थ मिथ्याज्ञान है, अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार कर लेने पर मिथ्याज्ञान नहीं रहता, यह उक्त कारिका वाक्य का अर्थ है, इस अर्थ को स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं होता। सविशेषब्रह्मवादी वेदान्तियों की आगमप्रकरण की कारिकाओं की व्याख्याएं श्रुतियों के अनुकूल होने से दोषरहित हैं इसलिए उपादेय हैं।

गौडपाद का अजातवाद

निर्विशेषाद्वैतियों का कहना है कि हम श्रीगौड़पादाचार्य के द्वारा **न निरोधो न चोत्पत्ति** (मां.का.2.32)इस कारिका में प्रतिपादित अजातवाद

के स्वीकार करते हैं, इस मत के अनुसार जगत् का जन्म होता ही नहीं अतः जगज्जन्मादिकारणत्व धर्म को लेकर ब्रह्म को सविशेष कहना उचित नहीं। मन्द अधिकारी के लिए ही श्रुतिसूत्रों में सृष्टि(जातवाद) का प्रतिपादन किया गया है तो यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि 'मन्द अधि कारी के लिए श्रुतिसूत्रों में जातवाद का प्रतिपादन किया गया है' उनके इस वाक्य से यह अर्थतः सिद्ध हो जाता है कि अजातवाद का श्रुतिसूत्रों में प्रतिपादन नहीं है। यदि कहें कि श्रुतिसूत्र जातवाद को उपाय तथा अजातवाद को उपेय कहते हैं, अतः अजातवाद भी श्रुतिसूत्रप्रतिपादित है, यह कथन भी निराधार है क्योंकि जिन 10 उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्र को प्रमाण मानकर आचार्य शंकर ने भाष्यरचना की है, उन श्रुतिसूत्रों में कहीं भी यह नहीं कहा है कि जातवाद उपाय है और अजातवाद उपेय है, यह कथन तब संभव होता जब श्रुति-सूत्रों में अजातवाद वर्णित होता किन्तु श्रुति-सूत्रों में कहीं भी अजातवाद का वर्णन नहीं है, उसका **एवं न च निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति सर्वदा। अजातमनिरुद्धं च तस्मात् सर्वमिदं जगत्॥**(बोधि.9.146) इस प्रकार बौद्धग्रन्थ में वर्णन प्राप्त होता है, गौडपाद के अजातवाद का मूल यही बौद्धवाक्य है। जगत् की उत्पत्ति आदि श्रुतिसूत्रप्रतिपादित हैं अतः जिज्ञास्य ब्रह्म का जगज्जन्मादिकारणत्व लक्षण होने से वह सविशेष ही सिद्ध होता है।

श्रीशंकराचार्य के द्वारा श्रुतिसूत्रप्रतिपादित सविशेष ब्रह्मतत्त्व का स्पष्टरूप से समर्थन न होने से विद्वानों की अवधारणा है कि उन्होंनें ब्रह्मसूत्र के आशय को प्रकट करने की अपेक्षा अपने द्वारा प्रवर्तित मत के मण्डन और अपने से भिन्नता रखने वाले मतों के खण्डन में उसका अधिक उपयोग किया। प्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित थीबो ने ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य के स्वरचित अनुवाद की भूमिका में लिखा है कि बादरायण का दार्शनिक सिद्धान्त शंकराचार्य के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न था किन्तु शंकराचार्य ने अपने शुष्क निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए बादरायण के ऊपर अपने मत का आरोप किया। आचार्यों के द्वारा रचित ग्रन्थों में प्रथम पूर्वपक्ष का प्रतिपादन होता है, पश्चात् सिद्धान्तपक्ष का। ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों में भी प्रथम पूर्वपक्ष के सूत्र और बाद में सिद्धान्तसूत्र होते हैं। यह विषय प्रसिद्ध होने पर भी कार्याधिकरण के शांकरभाष्य में पूर्व सूत्र सिद्धान्तसूत्ररूप

से तथा उत्तर सूत्र पूर्वपक्षरूप से रखे गये हैं क्योंकि सूत्रकार द्वारा प्रदर्शित क्रम से श्रुतिसूत्र की अभीष्ट सिद्धि होने पर भी भाष्यकार की अभीष्टसिद्धि नहीं होती। इस प्रकार शिष्टों में स्वमत के ग्रहण के लिए आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या की किन्तु अपना आशय सूत्र से अलग बताकर स्वमत की प्रतिष्ठा की।

माण्डूक्यकारिका का विहंगावलोकन

यह प्रस्तावना के आरम्भ में कहा ही जा चुका है कि आगमप्रकरण की कारिकाएं उपनिषद्मन्त्रों की व्याख्यारूप हैं इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ में मन्त्रों के साथ उनकी भी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है अतः यहाँ शेष तीन प्रकरणों की कारिकाओं के विषय में विचार किया जा रहा है-

श्रीगौडपादाचार्य ने वैतथ्यप्रकरण में सर्वप्रथम **वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः**(मां.का.2.1)इस कारिका से स्वप्नावस्था के पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध करके **अन्तःस्थानात्तु भेदानां तस्मात्जागरिते स्मृतम्**(मां. का.2.4), **स्वप्नजागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः**(मां.का.2.5) इत्यादि कारिकाओं से स्वप्न के पदार्थों के समान जाग्रत के पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है तथा उसे **आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा**(मां.का.2.6)और **तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृता।**(मां. का.2.7) इन वचनों के द्वारा विस्तार से बताया है। मायावी (जादूगर), स्वप्न तथा रज्जुसर्पादि दृष्टान्तों के द्वारा बहुत प्रकार से सृष्टि के मिथ्यात्व का निरूपण करके और आगे विभिन्न वादियों के मतों का अनुवाद करके **स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा। तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥**(मां.का.2.31)इस प्रकार अपने मत को वेदान्त से सिद्ध कहा है। **न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥**(मां.का.2.32)इस प्रकार अपने मत का सार प्रस्तुत किया है और अन्त में अद्वैतभाव की प्रशंसा की है।

वैतथ्यप्रकरण की ही चतुर्थ कारिका की व्याख्या में भाष्यकार श्रीशंकराचार्य ने 'जाग्रत अवस्था में दिखायी देने वाले पदार्थ मिथ्या हैं' यह प्रतिज्ञा है, 'दृश्यत्व' यह हेतु है, 'स्वप्न में दिखायी देने वाले पदार्थों के समान' यह दृष्टान्त है- **जाग्रतदृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा,**

दृश्यत्वादिति हेतुः, स्वप्नदृश्यभाववदिति दृष्टान्तः (मां.का.शां.भा.2.4)इत्यादि वचनों के द्वारा बहुलता से मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है। इसके आगे **न निरोधो न चोत्पत्तिः** इस कारिका के व्याख्यान में ''सृष्टि आदि के बोधक वेदान्तशास्त्र का अन्ततः यदि उस(सृष्टि)के निषेध में ही तात्पर्य है तो वेदान्त में भी शून्यवाद का प्रसंग उपस्थित होता है, ऐसी शंका उठाकर 'यह कहना उचित नहीं क्योंकि रज्जुसर्पादि विकल्प की अधिष्ठान के विना संभावना नहीं'-**न रज्जुसर्पादिविकल्पनाया निरास्पदत्वानुपत्तिरिति।**(मां.का.शां.भा.2.32)यह समाधान दिया है। जिस प्रकार सर्पभ्रम के अधिष्ठानरूप से एक रज्जु स्वीकार की जाती है, उसी प्रकार जगत्भ्रम के अधिष्ठानरूप से एक ब्रह्म स्वीकार किया जाता है, यह आचार्य शंकर का आशय है। माण्डूक्यकारिका के अलातशान्ति प्रकरण में जगद्मिथ्यात्ववाद तथा ज्ञानात्मवाद का निरूपण होने पर बौद्धमत से तुम्हारा क्या भेद है? इस शंका का **नैतद् बुद्धेन भाषितम्**(मां. का.4.99) यह कहकर समाधान दिया है। वहाँ का शांकरभाष्य इस प्रकार है-'यद्यपि बाह्य वस्तु का निराकरण और ज्ञानमात्र की कल्पना जो कि अद्वैत वस्तु के समीपवर्ती है, ऐसे विषय का उपदेश बुद्ध ने किया है किन्तु परमार्थ तत्त्व अद्वैत तो वेदान्तवाक्यों के द्वारा ही ज्ञेय है'- **यद्यपि बाह्यार्थनिराकरणं ज्ञानमात्रकल्पना चाद्वयवस्तुसामीप्यम् उक्तम्। इदं तु परमार्थतत्त्वम् अद्वैतं वेदान्तेषु एव विज्ञेयम्** इस प्रकार श्रीशंकराचार्य ने अपने अद्वैतसिद्धान्त की बाह्यार्थनिराकरण और ज्ञानात्मवाद विषय में बौद्ध से समीपता का स्वयं ही निरूपण किया है।

हमारे निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्त में ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को अधिष्ठान माना जाता है, बौद्धमत में नहीं अतः निर्विशेष ब्रह्म को स्वीकार करने वाला हमारा मत बौद्धमत से भिन्न है, इस प्रकार ब्रह्म को निर्विशेष स्वीकार करने वालों से पूँछना चाहिए कि अधिष्ठान ब्रह्म में निर्विशेषत्व धर्म रहता है या नहीं। यदि रहता है, तो वह धर्म भी एक विशेष है इसलिए इससे युक्त ब्रह्म सविशेष ही सिद्ध होगा और यदि उसमें निर्विशेषत्व धर्म नहीं रहता तो इसके न रहने से भी वह सविशेष ही सिद्ध होगा, इस प्रकार दोनों पक्षों में ब्रह्म सविशेष ही सिद्ध होता है, निर्विशेष सिद्ध नहीं होता।

शंका-हमारे द्वारा स्वीकृत निर्विशेषत्व धर्म ब्रह्म का स्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं, अतः निर्विशेषत्व को लेकर ब्रह्म को सविशेष नहीं कहा जा सकता।

समाधान-यह शंका उचित नहीं क्योंकि धर्म को धर्मी का स्वरूप स्वीकार करने पर आपकी बौद्धों से समता प्राप्त होती है। बौद्ध विद्वान् अनित्यत्व, अनेकत्व आदि धर्मों को ज्ञान का स्वरूप मानते हैं और आप भी नित्यत्व, एकत्व और निर्विशेषत्व को ज्ञान का स्वरूप मानते हैं। स्वरूप में विद्यमान तथा स्वरूप से अतिरिक्त नित्यत्व और एकत्व धर्म ही बौद्धसम्मत विज्ञान से वेदान्तसम्मत विज्ञान का भेद कराते हैं। इस प्रकार निर्विशेषत्व को ब्रह्मस्वरूप से अतिरिक्त मानकर ही बौद्ध मत से वैलक्षण्य कहा जा सकता है अन्यथा आप के द्वारा स्वीकृत निर्विशेषाद्वैत बौद्धमत ही सिद्ध होता है।

उक्त व्याख्यान से स्पष्ट है कि माण्डूक्यकारिका के अनुसार जगत् का मिथ्यात्व और निर्विशेष ब्रह्म की स्वीकृति श्रुतिसम्मत नहीं है अतः हमारे मत में ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को अधिष्ठान माना जाता है, बौद्धमत में नहीं, यह कथन अपने में बौद्धमत की समानता का निराकरण करने के लिए वाक्चातुर्यमात्र है, यही वस्तु स्थिति है क्योंकि 'विज्ञानवादी ने जिसे स्वीकार किया था कि घटादि के अविद्यमान होने पर ही चित्त को घटादि का ज्ञान होता है, विज्ञानवादी के द्वारा स्वीकृत यह मत हमारे द्वारा अनुमोदित ही है'- **यस्माद् असत्येव घटादौ घटाद्याभासता चित्तस्य विज्ञानवादिना अभ्युपगता, तद् अनुमोदितम् अस्माभिरपि।**(मां.का.4. 28) इस प्रकार कहकर आचार्य शंकर ने बौद्धसिद्धान्त के साथ स्वसिद्धान्त की समता स्वयं स्वीकार की है। गौड़पादीय कारिकाएं बौद्धसिद्धान्त के प्रतिपादक 'लंकावतार' ग्रन्थ के श्लोकों से शब्दतः और अर्थतः समानता रखती हैं। **न च वाच्योऽस्ति न मोक्षो न बन्धनम्** इत्यादि लंकावतार ग्रन्थ से समानता रखने वाली माण्डूक्यकारिका के वैतथ्यप्रकरणकी **न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥**(मां. का.2.32) यह कारिका है। **गन्धर्वनगरस्वप्नमायानिर्माणसदृशाः**(लं.) इत्यादि लंकावतार ग्रन्थ से समानता रखने वाली वैतथ्यप्रकरण की **स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा। तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु**

विचक्षणैः॥(मां.का.2.31) इत्यादि कारिकाएं है। जब आचार्य शंकर स्वयं बौद्धसिद्धान्त से स्वसिद्धान्त की समानता कहते हैं तो ऐसी समानता लिखना व्यर्थ का ही विस्तार होगा।

कारिकाओं का ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य से विरोध

अपने परमाचार्य गौड़पाद की कारिकाओं का व्याख्यान करने पर भी सूत्र का अनुसरण करने वाले श्रीशंकराचार्य **वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्**(ब्र. सू.2.2.29) के व्याख्यान में स्वप्नदृष्टान्तपूर्वक जाग्रत प्रपंच के मिथ्यात्व का निराकरण करते हैं- स्वप्न और जाग्रत अवस्था के ज्ञानों में वैधर्म्य है। पुनः वह वैधर्म्य क्या है? हम कहते हैं- बाध और अबाध है। स्वप्न अवस्था में उपलब्ध(ज्ञात) वस्तु जाग्रत मनुष्य को बाधित होती है, इस प्रकार जाग्रत अवस्था में उपलब्ध स्तम्भ आदि वस्तुएं किसी भी अवस्था में बाधित नहीं होतीं- **वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। किं पुनः वैधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य ......नैवं जागरितोपलब्धवस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदपि अवस्थायां बाध्यते**(ब्र.सू.शां.भा.2.2.29)।

माण्डूक्यकारिकाओं के भाष्य में बौद्धमत का आश्रय लेकर बाह्य पदार्थ का निराकरण और ज्ञानमात्र की कल्पना करने वाले आचार्य शंकर बौद्धमत-निराकरण के प्रसंग में **नाभाव उपलब्धेः**(ब्र.सू.2.2.28) इस सूत्र के भाष्य में ज्ञान से अतिरिक्त बाह्य पदार्थों के सद्भाव का इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं-बाह्य पदार्थ के अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता है, किस कारण से? उपलब्धि(ज्ञान)होने के कारण। प्रत्येक ज्ञान में स्तम्भ, कुड्य, घट, पट इत्यादि अर्थ उपलब्ध होते हैं। उपलब्ध होने वाले अर्थ का अभाव नहीं हो सकता।...मैं ऐसा नहीं कहता कि मैं किसी अर्थ को उपलब्ध नहीं करता किन्तु उपलब्धि से अतिरिक्त उपलब्ध नहीं करता, ऐसा कहता हूँ। तुम ठीक ऐसा कहते हो क्योंकि तुम्हारा मुख नियन्त्रण से रहित है परन्तु तुम युक्तियुक्त नहीं कहते क्योंकि उपलब्धि से अर्थ का भेद भी बलात् स्वीकार करना होगा क्योंकि ऐसी ही अर्थ की उपलब्धि होती है। कोई भी उपलब्धि को स्तम्भ और कुड्यरूप से उपलब्ध नहीं करता किन्तु सभी लोग उपलब्धि के विषयरूप से ही स्तम्भ

और कुड्यादि को उपलब्ध करते हैं-**न खल्वभावो बाह्यस्यार्थस्य अध्यवसातुं शक्यते। कस्मात्? उपलब्धेः। उपलभ्यते हि प्रतिप्रत्ययं बाह्योऽर्थः स्तम्भः कुड्यः घटः पट इति। न चोपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति।...ननु नाहमेवं ब्रवीमि न कंचिदर्थमुपलभ इति किन्तु उपलब्धिव्यतिरिक्तं नोपलभ इति ब्रवीमि। बाढमेवं ब्रवीषि। निरंकुशत्वात् ते तुण्डस्य। न तु युक्त्युपेतं ब्रवीषि यत उपलब्धिव्यतिरेकोऽपि बलादर्थस्याभ्युगन्तव्यः। उपलब्धेरेव। नहि कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भः कुड्यं चेत्युपलभ्यते, उपलब्धिविषयत्वेन तु स्तम्भकुड्यादीन् सर्वे लौकिका उपलभ्यन्ते।**(ब्र. सू.शां.भा.2.2.28)।

न निरोधो न चोत्पत्ति(मां.का.2.32) कारिका के भाष्य में सृष्टि आदि सभी के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करने वाले श्रीशंकराचार्य ब्रह्मसूत्रभाष्य में कार्य-कारण के अभेद को सिद्ध करते हुए कार्य के भी त्रिकालाबाध्यत्व की प्रतिज्ञा करके सृष्टि और सृष्ट प्रपंच के सत्यत्व की प्रतिज्ञा करते हैं, उन्होनें **सत्वाच्चावरस्य**(ब्र.सू.2.1.16) सूत्र के भाष्य में ''जैसे कारण ब्रह्म तीनों कालों में सत्त्व से व्यभिचरित नहीं होता, ऐसे कार्य जगत् भी तीनों कालों में सत्त्व से व्यभिचरित नहीं होता, इस प्रकार सत्ता तो एक है, इससे भी कार्य का कारण से अभेद है''- **यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति, एवं कार्यमपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति। एकं च पुनः सत्त्वमतोऽतोऽनन्यत्वं कारणात् कार्यस्य।** इन दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक वाक्यों के द्वारा जगत् का त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्यत्व स्वीकृत्त है? या नहीं? यह विषय विचार करने योग्य है। सद्रूप से जगत् सत्य है, घटादिरूप से नहीं, ऐसा भाष्य का अर्थ है, यह कहना उचित नहीं क्योंकि सद् ब्रह्म को ही दृष्टान्त बनाकर जगत् के त्रिकालाबाध्यत्व का निरूपण किया जाता है। जैसे रज्जुरूप से सर्प सत्य है, यह कथन व्याघात दोष से युक्त है वैसे ही सद्रूप से जगत् सत्य है, यह कथन भी व्याघात दोष से युक्त है क्योंकि रज्जुरूप से सर्प उपलब्ध ही नहीं होता अतः उसे रज्जुरूप से सत्य कहना संभव नहीं। विवर्तवादी के मत में ज्ञानी को स्वरूपभूत निर्विशेष चिन्मात्र से अतिरिक्त कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। अज्ञानी को जगत्रूप से ही जगत् उपलब्ध होता हैं। जब जगत् किसी को सद्रूप(अधिष्ठानरूप) से उपलब्ध ही नहीं होता तो उसे

सद्रूप से सत्य कैसे कहा जा सकता है? अतः उक्त शांकरभाष्यवचन को ब्रह्म और जगत् उभय की सत्यता का बोधक मानना चाहिए, इसका विश्लेषण करने पर ब्रह्म की कूटस्थ सत्यता और जगत् की परिणामी सत्यता सिद्ध होती है, मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता, किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' यह सिद्धान्त खण्डित हो जायेगा और ब्रह्म को सविशेष ही स्वीकार करना होगा।

श्रीशंकराचार्य **मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।**(मां.का.17) और **उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते।**(मां.का.18)इत्यादि कारिकाखण्डों के व्याख्यान में शास्त्र, शास्ता और शिष्य इन भेदों का भी मिथ्यात्व स्वीकार करते हैं। द्वैतवादी स्वसिद्धान्त के प्रतिपादन में दृढ निश्चय वाले होते हैं और एक दूसरे के मत का विरोध करते हैं किन्तु हमारा अद्वैतसिद्धान्त उनसे कोई विरोध नहीं करता-**स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्। परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते॥**(मां.का.3.17) इस कारिका के व्याख्यान में 'भ्रान्तिमूलक द्वैत मतों का परस्पर विरोध ही है किन्तु इस प्रकार हमारे वैदिक मत का उनसे विरोध ही नहीं' ऐसा लिखने वाले आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्रभाष्य में जगत्मिथ्यात्ववादी के प्रति 'लौकिक पदार्थों को स्वीकार न करने पर परीक्षकों के द्वारा की जाने वाली वादप्रतिवाद की व्यवस्था भी कैसे संभव होती है?' इस अभिप्राय से आक्षेप करते हुए **अनुस्मृतेश्च**(ब्र.सू.2.2.25) इस सूत्र में कहते हैं कि जब तक लोकप्रसिद्ध पदार्थ का परीक्षकों के द्वारा परीक्षा करके ग्रहण न हो, तब तक स्वपक्ष की सिद्धि अथवा परपक्ष का दोष दोनों कहने पर भी यथार्थरूप से परीक्षकों के और अपने बुद्धिसंतान में नहीं आयेंगे- **यदा हि लोकप्रसिद्धः पदार्थः परीक्षकैः न परिगृह्यते, तदा स्वपक्षसिद्धिः परपक्षदोषो वोभमप्युच्यमानं परीक्षकाणामात्मनश्च यथार्थत्वेन न बुद्धिसंतानमारोहति।**(ब्र.सू.भा.2.2.25) इस प्रकार भाष्य में आचार्य शंकर लौकिक पदार्थों को स्वीकार करने की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हैं, जो कि उन्हें सत्य मानने पर ही संभव है, मिथ्या मानने पर नहीं। शंकर के उक्त भाष्यवचन से स्पष्ट है कि गौडपादाचार्य ने वेदान्तसिद्धान्त में श्रुतिसूत्रविरुद्ध जगद्मिथ्यावाद का बलात् आरोप किया, इसलिए वैदिक धर्म के संरक्षण में प्रवृत्त श्रीशंकराचार्य ने कारिकाओं का व्याख्यान करने

पर भी ब्रह्मसूत्रभाष्य में उससे विरुद्ध व्याख्यान करके स्वमत को बौद्धमत से भिन्न वैदिकमत सिद्ध करने का बहुत प्रयास किया।

आचार्य गौडपाद और उनकी कारिकाओं के विषय में आधुनिक विद्वानों के विचार

1. डा. दासगुप्ता का यह विश्वास है कि आचार्य गौडपाद सम्भवतः बौद्ध ही थे। (यद्यपि गौडपाद को बौद्ध मानना उचित नहीं है, तथापि यह तो सिद्ध ही है कि वे बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों से पर्याप्त प्रभावित थे, इसलिए उन्होंने बौद्धसिद्धान्तों को अद्वैतरूप में स्वीकार भी किया।)

2. स्वामी विशुद्धानन्दपरिव्राजक माण्डूक्यकारिका की अपनी हिन्दी व्याख्या की प्रस्तावना में लिखते हैं कि गौडपाद का प्रतिपाद्य विषय बौद्धधर्म का शून्य ही है और शंकर का प्रतिपाद्य ब्रह्म विज्ञानवाद के समीप है। जिस प्रकार वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त अजातवाद है, इसी प्रकार भगवान् बुद्ध का मुख्य तात्पर्य शून्यवाद या अनिर्वचनीयवाद में है। जिस प्रकार ब्रह्म का कोई लक्षण नहीं, ज्यों ही लक्षण किया जाता है, त्यों ही अजातवाद दृष्टिसृष्टिवाद में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार शून्यवाद का कोई लक्षण नहीं जब लक्षण किया जाता है, तब विज्ञानवाद आ टपकता है। दृष्टिसृष्टिवाद और विज्ञानवाद दोनों एक ही सिद्धान्त के दो नाम हैं। दृष्टि के उत्पन्न होते ही सृष्टि भासने लगती है, उसी प्रकार पदार्थ और विज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार शून्यवाद को गौडपादाचार्य ने अजातवाद के वस्त्र पहना दिए हैं, उसी प्रकार विज्ञानवाद को दृष्टिसृष्टिवाद के वस्त्र पहनाए हुए हैं। जिस प्रकार माध्यमिक कारिका का वैदिक संस्करण गौडपादीय कारिका है, उसी प्रकार विज्ञानवाद का वैदिक संस्करण योगवाशिष्ठ है।

3.डॉ.राधाकृष्णन् लिखते हैं कि अद्वैतवेदान्त को शास्त्रीय की अपेक्षा विवेकयुक्त आधार देने के सम्बन्ध में गौडपाद को माध्यमिक से बढ़कर और कुछ इतना उपयोगी साधन प्राप्त नहीं हो सका। गौडपाद की अनेक कारिकाएं हमें नागार्जुन के ग्रन्थ का स्मरण कराती हैं[1]। ऐसा प्रतीत होता

---

1. डॉ.राधाकृष्णनकृत भारतीयदर्शन(प्रथमखण्ड) पृष्ठ 576

है कि उसे (गौडपाद को) बौद्ध दर्शन के कुछ रूपों के साथ अपने दर्शन की समानता का ज्ञान था, इसलिए वह कुछ अधिक आगे बढ़कर विरोध के रूप में कहता है कि उसका मत बौद्ध मत नहीं है। अपने ग्रन्थ के अन्तिम भाग में वह कहता है 'यह बुद्ध ने नहीं कहा था'- **नैतद् बुद्धेन भाषितम्।**(मां.का.), यह आनुभविक जगत् अविद्या के कारण है अथवा नागार्जुन की भाषा में संवृत्ति के कारण है। इन सिद्धान्तविषयक अंशों के अतिरिक्त पारिभाषिक शब्दों में भी समानताएं हैं, जो निश्चयपूर्वक बौद्ध धर्म के प्रभाव का निर्देश करती हैं। किसी वस्तु अथवा सत्ता के लिये धर्म शब्द का प्रयोग और संघात शब्द का प्रयोग पदार्थों के अस्तित्व के लिए विशिष्टरूप से बौद्धधर्म से ही सम्बन्ध रखते हैं। अलातचक्र की उपमा का बौद्धधर्म के ग्रन्थों में प्रायः ही अयथार्थता के प्रतीकरूप में प्रयोग हुआ है[1]।

4.गौड़पाद के सम्बन्ध में भी अभी तक विधुशेखर भट्टाचार्य, भदन्त आनन्द, कौसल्यायन आदि विद्वानों की धारणा का कि गौडपाद का दर्शन बौद्धदार्शनिक प्रतिपत्तियों को स्वीकार करके प्रवृत्त हुआ है, पूर्णतः खण्डन नहीं किया जा सका है। भारतीय दर्शन के आधुनिक इतिहासकारों और शोधकर्ताओं ने भी लगभग यह स्वीकार कर लिया है कि बौद्धदर्शन शांकरवेदान्त का मात्र पूर्वपक्ष नहीं है अपितु वह उस दर्शन में अनुप्रविष्ट भी है[2]।

5.सत्ता का पारमार्थिक तथा व्यवहारिकरूप से विभाग जो कि शांकरदर्शन में मिलता है, वह बौद्धदर्शन के ही आधार पर प्रचलित हुआ प्रतीत होता है। बौद्धों का परमार्थ सत्ता तथा व्यवहार सत्ता इस प्रकार सत्ताभेद अतिप्राचीन पालीसाहित्य में ही मिलता है[3]।

---

1. डॉ. राधाकृष्णन्कृत भारतीयदर्शन(द्वितीयखण्ड)पृष्ठ399-400
2. श्रीसूर्यप्रकाशव्यास द्वारा लिखित एवं विवेक पब्लिकेशन्स अलीगढ़ से प्रकाशित ग्रन्थ 'बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैवदर्शन के प्राक्कथन से उद्धृत। प्राक्कथन के लेखक डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी हैं।
3. गीताप्रेस गोरखपुर के 'वेदान्त अंक' (वि.सं. 1993)में महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज द्वारा लिखित 'प्राचीन अद्वैतवाद के साथ शंकर के अद्वैतवाद का सम्बन्ध' लेख से उद्धृत।

मेरी मौलिक कृति 'विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन' तथा तत्त्वत्रयम्, ईशावास्योपनिषत्, केनोपनिषत्, कठोपनिषत्, प्रश्नोपनिषत्, मुण्डकोपनिषत् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या और केनोपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्य, माण्डूक्योपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्य की ज्ञानगङ्गाव्याख्या लेखन के पश्चात् जगदम्बा श्रीसीतामाता, भगवान् श्रीमद्रामचन्द्र और पूज्य गुरुदेव के अहेतुक अनुग्रह से प्रस्तुत माण्डूक्योपनिषत् का व्याख्यालेखन सम्पन्न हुआ। इस कार्य में मुझे श्रीकूरनारायणमुनि का भाष्य और श्रीराघवेन्द्रतीर्थ की खण्डार्थव्याख्या का सहयोग प्राप्त हुआ है, इसके लिये मैं इनका आभारी हूँ।

स्वामी त्रिभुवनदास

मंगलम् कुटीरम्, गंगा लाइन

स्वर्गाश्रम, ऋषीकेश

उत्तराखण्ड, पिन-249304

चलवाणी 08057825137(रात्रि 8-10)

विषयानुक्रमणिका

माण्डूक्योपनिषत्

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

प्रथमः खण्डः

हरिः ओम्।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति। सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतम्, तदप्योंकार एव।।1।।

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्।।2।।

। इति प्रथमः खण्डः।

द्वितीयः खण्डः

हरिः ओम्

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुक् वैश्वानरः प्रथमः पादः।।1।।

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः।।2।।

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते, न कंचन स्वप्नं पश्यति, तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एव आनन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।।3।।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिस्सर्वस्य। प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।।4।।

माण्डूक्यकारिकाः

अत्रैते श्लोकाः भवन्ति-

बहिःप्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः।।1।।
दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तश्च तैजसः।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः।।2।।

विश्वो हि स्थूलभुङ् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
आनन्दभुक् तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत॥3॥
स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम्।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत॥4॥
त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते॥5॥
प्रभवस्सर्वभावानां सताम् इति विनिश्चयः।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशून् पुरुषः पृथक्॥6॥
विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।
स्वप्नमायास्वरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता॥7॥
इच्छामात्रं प्रभोस्सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात् प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः॥8॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा॥9॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमैकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते। स आत्मा। स विज्ञेयः॥5॥

माण्डूक्यकारिकाः

अत्रैते श्लोकाः भवन्ति–

निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः।
अद्वैतस्सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुस्स्मृतः॥10॥
कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिद्धयतः॥11॥
नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम्।
प्राज्ञः किंचन संवेत्ति तुर्यं तत् सर्वदृक् सदा॥12॥
द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते॥13॥
स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः॥14॥
अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।

विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते॥15॥
अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥16॥
प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥17॥
विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचिद्।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते॥18॥

। इति द्वितीयः खण्डः।

तृतीयः खण्डः

हरिः ओम्

सोऽयमात्मा अध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रम्। पादा मात्रा मात्राश्च पादाः अकार उकारो मकार इति॥1॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा, आप्तेरादिमत्त्वाद् वा। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, आदिश्च भवति, य एवं वेद॥2॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रा, उत्कर्षादुभयत्वाद् वा। उत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिम्, समानश्च भवति। नास्याब्रह्मवित् कुले भवति, य एवं वेद॥3॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा, मितेरपीतेर्वा। मिनोति ह वा इदं सर्वम्, अपीतिश्च भवति, य एवं वेद॥4॥

माण्डूक्यकारिकाः

अत्रैते श्लोकाः भवन्ति–

विश्वस्यात्वविवक्षायाम् आदिसामान्यमुत्कटम्।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च॥19॥
तैजसस्योत्वविज्ञाने उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम्।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम्॥20॥
मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यम् उत्कटम्।
मात्रासंप्रतिपत्तौ तु लयसामान्यम् एव च॥21॥
त्रिषु धामसु यत्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैष महामुनिः॥22॥
अकारो नयते विश्वं उकारश्चापि तैजसम्।

मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यतेऽगतिः।।23।।

। इति तृतीयः खण्डः।

चतुर्थः खण्डः

हरिः ओम्

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानम्। य एवं वेद, य एवं वेद।

। इति चतुर्थः खण्डः।

माण्डूक्यकारिकाः

अत्रैते श्लोकाः भवन्ति-

ओंकारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः।
ओंकारं पादशो ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।24।।
युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्।।25।।
प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्यो न परः प्रणवोऽव्ययः।।26।।
सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदन्तरम्।।27।।
प्रणवं हीश्वरं विद्यात् सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति।।28।।
अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमश्शिवः।
ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः।।
स मुनिर्नेतरो जनः।।29।।

। इति चतुर्थः खण्डः।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

। माण्डूक्योपनिषत् समाप्ता।

माण्डूक्योपनिषत्
तत्त्वविवेचनीहिन्दीव्याख्यासहित

येन व्याप्तमिदं सर्वं चेतनाऽचेतनात्मकम्।
विशुद्धसद्गुणौघं तं सीताराममहं भजे ॥1॥
सूत्रवृत्तिकृतौ नत्वा व्यासबोधायनौ मुनी।
भाष्यकर्तारमाचार्यं प्रणमामि पुनः पुनः ॥2॥
विद्याचार्यान् हनूमन्तं गङ्गां च श्रीगुरुं भजे।
माण्डूक्योपनिषद्व्याख्या रुचिरा क्रियते मया॥3॥

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

अन्वय

देवाः कर्णेभिः भद्रं शृणुयाम। यजत्राः अक्षभिः भद्रं पश्येम। यद् आयुः देवहितं स्थिरैः अङ्गैः तनूभिः तुष्टुवांसः व्यशेम। वृद्धश्रवाः इन्द्रः नः स्वस्ति। विश्ववेदाः पूषा नः स्वस्ति। अरिष्टनेमिः तार्क्ष्यः नः स्वस्ति। बृहस्पतिः नः स्वस्ति दधातु।

अर्थ

देवाः- हे देवताओ! (हम सब) **कर्णेभिः**- कानों से **भद्रम्**- मङ्गलमय (परमात्मा के प्रतिपादक वेदान्त) वचनों को **शृणुयाम**- सुनें। **यजत्राः**- आराधना करते हुए(हम सब) **अक्षभिः**- आँखों से (परमात्मा के) **भद्रम्**- मङ्गलमय रूप को **पश्येम**- देखें। हम लोगों की **यद्**- जो **आयुः**- आयु है, **देवहितम्**- परमात्मा की सेवा के लिए प्राप्त उस आयु को **स्थिरैः**- स्वस्थ **अङ्गैः**- अङ्गों वाले **तनूभिः**- शरीरों से (युक्त होकर हम

सब) परमात्मा की **तुष्टुवांसः**- स्तुति करते हुए **व्यशेम**-व्यतीत करें। **वृद्धश्रवाः**- महान् कीर्ति वाला **इन्द्रः**-इन्द्र **नः**-हमारा (हमें) **स्वस्ति**-मङ्गल(मङ्गलमय परमात्मा का साक्षात्कार प्रदान)करे। **विश्ववेदाः**- सर्वज्ञ **पूषा**- सूर्य देवता (श्रवण का सामर्थ्य देकर) **नः**- हमारा **स्वस्ति**- मङ्गल करे। **अरिष्टनेमिः**- सर्वत्र अव्याहत गति वाला **तार्क्ष्यः**- गरुड देवता (मनन का सामर्थ्य देकर) **नः**- हमारा **स्वस्ति**- मङ्गल करे। **बृहस्पतिः**- बृहस्पति देवता(निदिध्यासन का सामर्थ्य देकर) **नः**- हमें **स्वस्ति**- मङ्गल **दधातु**- प्रदान करे। **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**-त्रिविध तापों की शान्ति हो।

प्रथमः खण्डः

प्रस्तुत माण्डूक्योपनिषत् मुमुक्षु अधिकारी के सम्पूर्ण बन्धनों की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्मानुभवरूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए समस्त और व्यस्त प्रणव के प्रतिपाद्य ब्रह्म की उपासना का निरूपण करने में प्रवृत्त होकर आरम्भ में समस्त प्रणव के प्रतिपाद्य का निरूपण करती है-

प्रथमो मन्त्रः

हरिः ओम्।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति । सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतम्, तदप्योंकार एव॥1॥

अन्वय

ओम् इति एतद् अक्षरम्, इदं सर्वम्। तस्य उप व्याख्यानं भूतं भवत् भविष्यत् इति । सर्वम् ओंकारः एव च अन्यत् यत् त्रिकालातीतम्, तद् अपि ओंकारः एव।

अर्थ

ओम्[1]- ओम् **इति**- इस प्रकार (कहा जाने वाला जो) **एतद्**- ब्रह्म

1. 'अव' धातु से मनिन् प्रत्यय, उसकी टि का लोप, **ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधा-याश्च**(अ.सू.6.4.20) इस सूत्र से धातु की उपधा अकार और वकार के स्थान पर ऊठ आदेश और **सार्वधातुकार्धधातुकयोः**(अ.सू.7.3.84) इस सूत्र से इगन्ताङ्ग को

है, वह **अक्षरम्**-सत्य (है, वह अक्षर ब्रह्म ही) **इदम्**- चेतनाऽचेतनात्मक **सर्वम्**- सम्पूर्ण जगत् है। (अब) **तस्य**- 'ओम्' इस शब्द से प्रतिपाद्य ब्रह्म का **उप**- उपयुक्त **व्याख्यानम्**- व्याख्यान किया जाता है- ब्रह्म **भूतम्**- भूतकाल में विद्यमान **भवत्**- वर्तमान काल में विद्यमान(और) **भविष्यत्**- भविष्य काल में भी विद्यमान है, **इति**- इस प्रकार 'ओम्' शब्द से प्रतिपाद्य ब्रह्म का उपयुक्त व्याख्यान निष्पन्न हुआ। **सर्वम्**- सम्पूर्ण जगत **ओंकारः**- 'ओम्' इस प्रकार कहा जाने वाला ब्रह्म **एव**- ही है **च**- और (अचेतन प्रकृति तथा चेतन आत्मा से) **अन्यत्**- भिन्न **यत्**- जो **त्रिकालातीतम्**- त्रिकालातीत(कालत्रय से अपरिच्छिन्न) वस्तु है। **तद्**- वह **अपि**- भी **ओंकारः**- ब्रह्म **एव**- ही है।

व्याख्या

ओम्

ब्रह्म का बोधक 'ओम्' शब्द है-**तस्य वाचकः प्रणवः**(यो.सू.1.27), 'ओम्' यह एक अक्षर वाला शब्द ब्रह्म का नाम है-**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म** (गी.8.13) इसलिए वह 'ओम्' शब्द से कहा जाता है। यहाँ ओम् शब्द से बोध्य अर्थ ब्रह्म का ही बोधक 'एतत्' शब्द है।

अक्षर

ओम् शब्द का अर्थ ब्रह्म अक्षर[1] है अर्थात् सत्य है। स्वरूपतः और गुणतः विकार से रहित वस्तु सत्य कहलाती है। **सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म** (तै.उ.2.1.1)इस श्रुति में आया 'सत्यम्' पद निर्विकार ब्रह्म का प्रतिपादन करता है, उससे स्वरूपतः विकार वाले अचेतन पदार्थ और उससे सम्बद्ध बद्ध जीव की व्यावृत्ति होती है-**तत्र सत्यपदं निरुपाधिकसत्तायोगि ब्रह्माह। तेन विकारास्पदमचेतनं तत्संसृष्टश्चेतनश्च व्यावृत्तः।** (श्रीभा.1.1.2) ब्रह्म की सत्ता किसी के अधीन नहीं है किन्तु

गुण करने पर 'ओम्' शब्द सिद्ध होता है। यह अव्यय पद है, इसका स्वरादि और चादि दोनों गणों में पाठ है। चादिगण में पठित अद्रव्यवाचक ओम् शब्द का अङ्गीकार अर्थ होता है और अन्य ओम् शब्द का ब्रह्म अर्थ होता है इसलिए **ओमित्यङ्गीकारे ब्रह्मणि च** ऐसा कहा जाता है।

1. **न क्षरतीति अक्षरम्** इस व्युत्पत्ति के अनुसार अक्षर शब्द का अर्थ तीनों कालों में एक जैसी रहने वाली सर्वथा निर्विकार वस्तु है।

चेतन[1] और अचेतन पदार्थों की सत्ता ब्रह्म के अधीन है। वे पदार्थ देश, काल आदि उपाधियों से अवस्थान्तर को प्राप्त होते हैं। किसी परिणामविशेष के कारण भिन्न-भिन्न अवस्थावाले पदार्थ की सत्ता सोपाधिक सत्ता कही जाती है। इसका अर्थ है-विकारित्व और इससे भिन्न निरुपाधिक सत्ता का अर्थ है-निर्विकारत्व। निरुपाधिक सत्ता वाली वस्तु स्वरूपतः और धर्मतः निर्विकार होती है इसलिए सत्य पद से स्वरूपतः विकार वाले अचेतन एवं उससे सम्बद्ध चेतन बद्धजीव का ग्रहण नहीं हो सकता। कार्यावस्था (स्थूलावस्था) होने से चेतन और अचेतन को स्थूल एवं कारणावस्था (सूक्ष्मावस्था) होने से सूक्ष्म कहा जाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न नामों से कहने योग्य उनकी दो अवस्थाएं होती हैं। अवस्थान्तर वाले होने से वे सोपाधिक सत्ता वाले अर्थात् विकारी होते हैं। प्रकृति का कार्यावस्था में महत् से लेकर भूत-भौतिक पदार्थों के रूप में परिणाम होता है, यह प्रकृति के स्वरूप का परिणाम (विकार) है। कार्यावस्था में बद्ध जीव के धर्मभूत ज्ञान का कामना आदि विविध वृत्तियों के रूप में परिणाम होता है। जीव का स्वरूपभूत ज्ञान सदा एकरूप ही रहता है, उसका कोई परिणाम नहीं होता, इस प्रकार जीव का प्रकृति जैसा स्वरूपतः परिणाम नहीं होता किन्तु धर्मतः परिणाम होता है। सत्य पद स्वरूपतः और गुणतः विकार से रहित ब्रह्म का बोध कराता है। सभी विकारों से रहित होने के कारण ब्रह्म सत्यस्वरूप है- **सत्यपदं स्वरूपतो गुणतश्च विकारराहित्यं बोधयति। सर्वविकाररहित्वात् सत्यस्वरूपं ब्रह्म** (तै.उ.आ.भा.2.1.1)। परमात्मा के धर्मभूतज्ञान का भी सिसृक्षा आदिके रूपमें परिणाम होता है तो परमात्मा भी धर्मतः विकारी है, ऐसी शंका करना उचित नहीं क्योंकि यहाँ कर्मकृत धर्मतः परिणाम विवक्षित है। वह परमात्मा में नहीं है, अतः वह धर्मतः अविकारी कहा जाता है। जगत् रज्जुसर्प जैसा मिथ्या नहीं है बल्कि सत्य है। प्रकृति का स्वरूपतः परिणाम होता है। जीवात्मा का स्वरूपतः परिणाम

---

1. नैयायिकमत में चेतन आत्मा ज्ञान का अधिकरण मानी जाती है, ज्ञानस्वरूप नहीं और शांकरमत में ज्ञानस्वरूप मानी जाती है, ज्ञान का अधिकरण नहीं किन्तु विशिष्टाद्वैत वेदान्तमत में श्रुतिप्रमाण के अनुसार आत्मा ज्ञानस्वरूप और ज्ञान का आश्रय दोनों ही मानी जाती है, इसके विशद विवरण के लिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में 'ज्ञाता तथा ज्ञानरूप ब्रह्म' का अवलोकन करना चाहिए।

नहीं होता इसलिए प्रकृति की अपेक्षा जीवात्मा सत्य है। जीवात्मा का धर्मतः परिणाम होता है, परमात्मा का धर्मतः भी परिणाम नहीं होता इसलिए जीवात्मा की भी अपेक्षा परमात्मा सत्य है। **सत्यस्य सत्यम्** (बृ.उ. 2.3.6) इस प्रकार बृहदारण्यक श्रुति ही सत्य पदार्थों के तारतम्य को कहती है। इस सत्य को न समझने के कारण ही बौद्धसिद्धान्तसम्मत 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यह मिथ्या धारणा प्रचारित हुई। ब्रह्म का नाम 'सत्य का सत्य है' जीवात्मा सत्य है, उससे भी बढ़कर ब्रह्म सत्य है-**अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्।**(बृ.उ.2.3.6)। त्रिगुणात्मिका अचेतन प्रकृति के स्वरूप में विकार होता रहता है। जीव के धर्मभूत ज्ञान में विकार होने पर भी स्वरूप में विकार नहीं होता, इसलिए जीव सत्य कहा जाता है। ब्रह्म के स्वरूप में विकार नहीं होता है और धर्म में भी विकार नहीं होता इस कारण जीव से भी बढ़कर ब्रह्म सत्य (निर्विकार) सिद्ध होता है इसलिए ब्रह्म को सत्य का सत्य कहा जाता है। इस प्रकार विशेष्य परमात्मस्वरूप अविकारी होता है। सत्य परमात्मा ही सत्य निर्विकार चेतन जीव तथा अनृत विकारी अचेतनरूप हो गया-**सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्।** (तै.उ.2.6.3) यह जगत्कारण ब्रह्म सूक्ष्मचेतनाचेतन से विशिष्ट है। प्रस्तुत तैत्तिरीय श्रुति में द्वितीय सत्य पद से तीनों को सत्य कहा जाता है। प्रथम सत्य पद से जड़ जगत् की अपेक्षा जीवात्मा को सत्य कहा गया है तथा जीव की अपेक्षा प्रकृति को अनृत कहा गया है। इस प्रकार श्रुतियों से ही सत्यत्व में तारतम्य सिद्ध है। यद्यपि जगत् मिथ्या नहीं है, फिर भी यदि मिथ्या शब्द का परिणामी (विकारी) अर्थ में प्रयोग किया जाय तो इससे हमारा कोई विरोध नहीं । संसार में आसक्ति न हो, इसलिए कुछ विद्वान् भी उसे मिथ्या कह देते हैं। वस्तुतः आसक्ति का हेतु सुखप्रदत्वबुद्धि है, सत्यत्वबुद्धि नहीं। ब्रह्म निरुपाधिक सत्य है, जगत् ब्रह्म जैसा सत्य नहीं है। सत्य पद का प्रवृत्तिनिमित्त अबाधितत्व है। देशकाल की अपेक्षा ब्रह्म से भिन्न जगत् का भी अबाधितत्व है अतः ब्रह्म से भिन्न जगत् का सत्यत्व सोपाधिक सत्यत्व है, ब्रह्म का ऐसा सोपाधिक सत्यत्व नहीं है इसलिए जगत् ब्रह्म जैसा सत्य नहीं है, इस दृष्टि से उसे असत्य कह सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्म की अपेक्षा जगत् का जो असत्यत्व है, वह ब्रह्मविलक्षणत्वरूप है, मिथ्यात्वरूप नहीं।

मुण्डकोपनिषत् **अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते**।(मु.उ.1.1.5) इस प्रकार अक्षर ब्रह्म को परा विद्या से ज्ञेय कहती है और **यत्तदद्रेश्यम् अग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः**॥(मु.उ.1.1.6) इस प्रकार उसके स्वरूप का निरूपण करती है[1] तथा **एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वम**...(बृ.उ.3.8.7) इस प्रकार बृहदारण्यक श्रुति भी उसके स्वरूप का निरूपण करती है। इस श्रुति से भी प्रतिपाद्य ब्रह्म सविशेष ही है, निर्विशेष नहीं, इसके लिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में ब्रह्मविवेचन के अन्तर्गत 'सविशेष ब्रह्म' प्रकरण द्रष्टव्य है।

जगत् की ब्रह्मरूपता

यह चेतनाऽचेतनात्मक जगत् ब्रह्म ही है। **ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्** यह श्रुति ब्रह्म को अक्षर कहते हुए जगत् की ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन करती है। भोक्ता जीव, भोग्य जड़ पदार्थ तथा प्रेरक ईश्वर को जानकर मैंने सम्पूर्ण त्रिविध[2] ब्रह्म को बता दिया-**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्ममेतत**।(श्वे.उ.1.12) जीवात्मा और प्रेरक ईश्वर को भिन्न भिन्न पदार्थ समझ कर उपासक ईश्वर की प्रीति का विषय होता है और उसके पश्चात् उस ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त करता है-**पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वम् एति** (श्वे.उ.1. 6), ईश्वर प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी एवं ज्ञानादि छः गुणों से पूर्ण है-**प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः**(श्वे.उ.6.16), जन्म न लेने वाले दो तत्त्व हैं, उनमें एक ईश्वर और दूसरा उससे भिन्न जीव, ईश्वर सर्वज्ञ है किन्तु जीव अल्पज्ञ है-**ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ** (श्वे.उ.1.9), समानगुण वाले और साथ रहने वाले जीव और ईश्वररूप दो पक्षी हैं- **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**(ऋ.सं 2.3.17, अ.सं.9.9.20, मु.उ.3.1.1.श्वे.उ.4.6) इत्यादि वाक्य जगत् (चेतन जीव तथा अचेतन प्रकृति) और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन

---

1. मुण्डकोपनिषत् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या में इसका विवरण द्रष्टव्य है।
2. जीव का अन्तर्यामी होकर रहना, जड पदार्थ का अन्तर्यामी होकर रहना तथा स्वस्वरूप से भी रहना, यही ब्रह्म की त्रिविधता है।

करते हैं तथा हे सोम्य! यह दृश्यमान जगत् सृष्टि के पूर्व एक सद् ब्रह्म ही था, इसका प्रेरक दूसरा निमित्त कारण नहीं था-**सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्।** (छां.उ.6.2.1), तुम वही हो-**तत्त्वमसि**(छां.उ.6.8.7.), यह सब ब्रह्म है-**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**(छां.उ.3.14.1) इत्यादि वाक्य अभेद का प्रतिपादन करते हैं। ये सभी श्रुतिवचन होने से इनमें परस्पर बाध्य-बाधकभाव संभव नहीं अर्थात् किसी एक पक्ष का आश्रय लेकर दूसरे पक्ष का बाध करना उचित नहीं अतः इनका विषय-विभाजन करके अर्थ करना ही समन्वय है, इसे विशिष्टाद्वैत वेदान्तसिद्धान्त स्वीकार करता है। लोक में देखा जाता है कि जब दो पक्षों में पारस्परिक विवाद होता है तब कुछ मध्यस्थ पुरुष आकर समझौता करा देते हैं। इसी प्रकार उपनिषदों में भी कुछ ऐसे वचन हैं, जो उक्त वाक्यों में समन्वय स्थापित करते हैं, इन्हें ही घटक श्रुति कहा जाता है। जैसे ब्रह्म सभी जनों के भीतर प्रविष्ट होकर शासन करने वाला सर्वात्मा है-**अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा**(तै. आ.3.11.3) तथा बृहदारण्यक(बृ.उ.3.7) के अन्तर्यामी ब्राह्मण में उल्लेख है कि जो परमात्मा पृथ्वी में रहता हुआ पृथ्वी के अन्दर है, जिसे पृथ्वी नहीं जानती, पृथ्वी जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर पृथ्वी का नियमन करता है, वह तुम्हारा निरतिशय भोग्य अन्तरात्मा ब्रह्म है-**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यामन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.3.7.7) यहाँ से आरम्भ करके " जो विज्ञान में रहता हुआ विज्ञान के अन्दर है, जिसे विज्ञान नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीर है और जो अन्दर रहकर विज्ञान का नियमन करता है, वह तुम्हारा निरतिशय भोग्य अन्तरात्मा ब्रह्म है-**यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।** (बृ.उ.3.7.26)यहाँ तक जगत् और ब्रह्म में शरीर-आत्मभाव सम्बन्ध बताया गया है। उक्त श्रुति में विज्ञान शब्द का अर्थ जीवात्मा है क्योंकि आगे उद्धृत माध्यन्दिनी शाखा के अन्तर्यामी ब्राह्मण में विज्ञान के स्थान पर आत्मा शब्द का पाठ है। जो परमात्मा आत्मा में रहता हुआ आत्मा के अन्दर है, जिसे आत्मा नहीं जानती, आत्मा जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर आत्मा का नियमन करता है, वह तुम्हारा निरतिशय भोग्य अन्तरात्मा ब्रह्म है-**य आत्मनि**

तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।(बृ.उ.मा.पा.3.7.26) इत्यादि श्रुतियाँ पृथिव्यादि सभी अचेतन पदार्थ और चेतन आत्माओं को ब्रह्म का शरीर तथा ब्रह्म को इन सभी की आत्मा कहती हैं। एक ही परमात्मा चेतनाचेतनरूप बहुत प्रकारों के प्रति प्रकारी होने से उनके अन्तरात्मारूप से स्थित होता है-**एको देवो बहुधा सन्निविष्टः।**(तै.आ.3.14.1)। देव, मनुष्यादि जीवों के अन्तरात्मारूप से उनके साथ ही रहने वाले परमात्मा को उसकी इन्द्रियाँ नहीं जान पाती हैं-**सहैव सन्तं न विजानन्ति देवाः।**(तै.आ.3.11.12) इत्यादि वचनों से भी परमात्मा चेतनाचेतन सभी शरीरों के अन्तरात्मा ज्ञात होते हैं। गीता में भगवान् ने कहा है कि जो चेतन अथवा अचेतन पदार्थ मेरे से पृथक् स्थित हो सके, वह नहीं है-**न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।**(गी.10.39) इससे चेतनाचेतन सभी शरीरों में परमात्मा की अन्तरात्मारूप से स्थिति विवक्षित है।

'सभी शब्द परमात्मपर्यन्त अर्थ के बोधक होते हैं' यह अर्थ निम्न वचनों से सिद्ध होता है। सभी वेद जिस प्राप्य ब्रह्म का वर्णन करते हैं-**सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति।** (क.उ.1.2.15)। सभी वेद जिस परमात्मा में एक होते हैं-**सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति।** (तै.आ.3.11.2) अर्थात् सभी वेदों का वाच्यार्थ एक परमात्मा ही है। हम उस परब्रह्म को नमस्कार करते हैं, जिसमें सभी शब्दों की शाश्वत स्थिति होती है-**नताः स्मः सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती।** (वि.पु.1.14.23)। शब्दों की वाच्यार्थ में स्थिति होती है। परब्रह्म सभी शब्दों के वाच्यार्थ हैं, इसलिए उनमें सभी शब्दों की स्थिति कही जाती है। मैं (परमात्मा) ही सम्पूर्ण वेदो के द्वारा ज्ञेय हूँ-**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।**(गी.15.15)।

शरीरवाचक शब्द शरीर का बोध कराते हुए शरीरी आत्मा का भी बोध कराते हैं, यह लोक में सभी के अनुभव से सिद्ध है। जैसे चैत्र जानता है, मैत्र दुःखी है, ऐसा कहने पर चैत्रशरीरान्तर्वर्ती आत्मा जानती है, मैत्रशरीरान्तर्वर्ती आत्मा दुःखी है, यह अर्थ सर्वसम्मत है। यहाँ चैत्रादि शब्दों को शरीरमात्र का वाचक नहीं मान सकते क्योंकि शरीर ज्ञानादि का आश्रय नहीं हो सकता। **अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि** (छां.उ.6.3.2) इस प्रकार सृष्टि प्रकरण में कहा गया है कि जगत् की

रचना करते समय परब्रह्म ने समष्टि पदार्थ में जीव के अन्तरात्मारूप से प्रवेश करके ही नाम और रूप का विभाग किया अत एव अचेतन शरीर के वाचक देव, मनुष्य, पशु आदि शब्द उन शरीरों को बताते हुए उनके भीतर विद्यमान जीवात्मा को और उसके भी भीतर विद्यमान परमात्मा को बताते हैं। परमात्मपर्यन्त अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति ही अपर्यवसान वृत्ति कही जाती है। मुख्य विशेष्य का बोध कराये विना केवल विशेषण का बोध कराने से जिस वृत्ति की कृतकृत्यता नहीं होती, वह विशेष्यपर्यन्त अर्थ का बोध कराने वाली शब्द की शक्तिवृत्ति ही अपर्यवसान वृत्ति कहलाती है-**नास्ति पर्यवसानं मुख्यविशेष्यबोधनमन्तरा विशेषणबोधन मात्रेण कृतकृत्यता यस्या वृत्तेः सा विशेष्यपर्यन्तबोधिका शब्दशक्तिः अपर्यवसानवृत्तिः**। वेदान्तमत में यही वृत्ति मुख्य है।

'देवोऽहम्' का अर्थ है- मैं देवशरीर वाला हूँ और 'मनुष्योऽहम्' का अर्थ है- मैं मनुष्यशरीर वाला हूँ। जैसे शरीरवाचक देव और मनुष्य शब्द उन शरीरों का बोध कराते हुए उनमें रहने वाली आत्मा तक के बोधक होते हैं, वैसे ही ब्रह्म के शरीरभूत चेतनाचेतनात्मक समस्त जगत् के बोधक **इदं सर्वम्** पद जगत् का बोध कराते हुए उसके अन्तरात्मा ब्रह्म का भी बोध कराते हैं। इस प्रकार चेतनाचेतनात्मक समस्त जगत् का अन्तरात्मा अक्षर ब्रह्म है, यह **अक्षरमिदं सर्वम्** का अर्थ निष्पन्न होता है। सम्पूर्ण जगत् का अन्तरात्मा अक्षर ब्रह्म होने से प्रस्तुत श्रुति जगत् को अक्षर (ब्रह्म)[1] कहती है। **सर्व खल्विदं ब्रह्म**(छां.उ.3.14.1) तथा **ब्रह्मैवेदं विश्वम्**(मु.उ.2.2.12) इत्यादि श्रुतियां भी इसी अर्थ की बोधक हैं।

श्रीकूरनारायणमुनि ने कहा है कि जगत् इस ब्रह्म में स्थित है इसलिए यह ओम् कहलाता है- **ओतं जगदस्मिन् ब्रह्मणीत्योम्**(कू.भा.) इस व्युत्पत्ति से ओम् शब्द का अर्थ चेतन-अचेतन सम्पूर्ण जगत् का अधिकरण ब्रह्म है, उसमें जगत् अपृथक्सिद्धि सम्बन्ध से स्थित है। वह

1.सोम्य! यह जगत् सृष्टि के पूर्व एक सद् ब्रह्म ही था- **सदेव सोम्येदमग्र आसीत्**।(छां.उ.6.2.1) इत्यादि श्रुतियाँ सृष्टि के पूर्वकाल में एक ब्रह्म की ही विद्यमानता को कहती हैं और ब्रह्म ने स्वयं को जगद्रूप में अभिव्यक्त किया-**तदात्मानं स्वयमकुरुत**। (तै.उ.2.7.1) यह श्रुति तथा **आत्मकृतेः**(ब्र.सू.1.4.26)

ब्रह्म का अपृथक्सिद्ध विशेषण है, ब्रह्म विशेष्य है। जिस पदार्थ की विशेष्य के साथ ही विद्यमानता और विशेष्य के साथ ही प्रतीति होती है, वह अपृथक्सिद्ध विशेषण होता है। जैसे शरीर आत्मा का अपृथक्सिद्ध विशेषण है। वह आत्मा के साथ ही विद्यमान होता है और आत्मा के साथ ही प्रतीत होता है, वह आत्मा के विना एक क्षण भी नष्ट हुए विना नहीं रहता। वैसे ही जगत् परमात्मा का अपृथक्सिद्ध विशेषण है, वह परमात्मा के साथ ही विद्यमान रहता है और साथ ही प्रतीत होता है। ब्रह्म से जगत् की अपृथक्सिद्धि का कारण व्याप्ति है। सब में ब्रह्म की व्याप्ति सर्वभूतान्तरात्मत्वरूप है। जैसे शरीर की शरीरी जीवात्मा से पृथक्सिद्धि नही हो सकती, वैसे ही व्याप्य शरीरभूत जगत् की व्यापक शरीरी ब्रह्म से पृथक्सिद्धि नहीं हो सकती, इस अपृथक्सिद्धि के कारण ही ब्रह्म के अधीन जगत् की स्थिति है। दण्ड और कुण्डलादि भी मनुष्य के विशेषण होते हैं किन्तु उनकी आश्रय से पृथक् विद्यमानता और पृथक् प्रतीति भी होती है, इसलिए वे पृथक्सिद्ध विशेषण होते हैं। अपृथक्सिद्ध विशेषणवाचक शब्द विशेषण का बोध कराते हुए उसके आश्रय द्रव्य का भी बोध कराते हैं, जैसे नीलत्व विशेषण का वाचक नील शब्द नीलत्व गुण का बोध कराते हुए उसके आश्रय नील द्रव्य का भी बोध कराता है और

और **परिणामात्** (ब्र.सू.1.4.27) इन सूत्रों से ब्रह्म का जगत्रूप होना कहा जाता है, वह जगत्रूप में कैसे होता है? ब्रह्म अपने संकल्प से जगत्रूप होता है- **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** (बृ.उ.2.5.19)। **माया वयुनं ज्ञानम्** (नि.3.9) इस निघण्टुवचन के अनुसार माया शब्द का अर्थ ज्ञान है। संकल्प भी ज्ञानविशेष है अतः निर्विशेषाद्वैतसिद्धान्तसम्मत माया शब्द का अविद्या अर्थ प्रस्तुत वैदिकनिघण्टु से विरुद्ध है। ब्रह्म अपने संकल्प से जगत्रूप होता है, इसलिए जगत् सत्य है, रज्जुसर्पवत् मिथ्या नहीं। सृष्टि के पूर्वकाल में ब्रह्म नामरूपविभाग के अभाव वाले सूक्ष्म चेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है और सृष्टिकाल में नामरूपविभाग वाले स्थूल चेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है, इससे स्पष्ट होता है कि सूक्ष्म चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही स्थूल चेतनाचेतनविशिष्टरूप से अभिव्यक्त होता है। सूक्ष्म चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म कारण है और स्थूल चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म कार्य (जगत्) है। इस प्रकार कार्य-कारण का अभेद अर्थात् जगत् ब्रह्म ही सिद्ध होता है। जैसे मिट्टी के कार्य घटादि मिट्टी ही होते हैं, वैसे ब्रह्म का कार्य जगत् ब्रह्म ही है, इस प्रकार कार्य कारण का अभेद होने से भी 'इदं सर्वम्' इस प्रकार जगत को अक्षर कहा जाता है।

गोत्व जाति का वाचक गो शब्द गोत्व जाति का बोध कराते हुए उसके आश्रय गो व्यक्ति का भी बोध कराता है वैसे ही ब्रह्म का विशेषण जगत् के वाचक 'इदं सवर्म्' पद चेतनाचेतनात्मक जगत् का बोध कराते हुए उसके आश्रय अन्तरात्मा ब्रह्म का भी बोध कराते हैं, इस प्रकार सभी का अन्तरात्मा ही 'इदं सर्वम्' पद से कहा जाता है। उक्त व्याख्यानों में आत्मशरीरभाव होने से मुख्यार्थ को लेकर ही सामानाधिकरण्य संभव होता है अतः बाधार्थ सामानाधिकरण्य[1] या औपचारिक सामानाधिकरण्य मानना उचित नहीं। प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार जगत् और ईश्वर में विशेषण-विशेष्यभाव है तथा इनके स्वभाव में विलक्षणता है इसलिए भेदप्रतिपादक श्रुतिवचन मुख्यरूप से संगत होते हैं और अपृथक्सिद्ध विशेषणवाचक शब्द विशेष्यपर्यन्त अर्थ के बोधक होते हैं इसलिए अभेदप्रतिपादक श्रुतिवचन भी मुख्यरूप से संगत होते हैं।

ब्रह्म का व्याख्यान

'ओम्' शब्द से प्रतिपाद्य ब्रह्म ही अक्षर शब्द का अर्थ है, यह **ओमित्येतदक्षरम्** से कहा गया। वह किस निमित्त से ब्रह्म अर्थ का बोध कराता है? अर्थात् ब्रह्म का बोध कराने में अक्षर शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर **तस्योपव्याख्यानम्** यह प्रतिज्ञा करके **भूतं भवद् भविष्यदिति** इस प्रकार समाधान कहा जाता है। विश्लेषण करके इसके द्वारा कथन किया जाता है, इसलिए यह व्याख्यान अर्थात् प्रवृत्तिनिमित्त कहलाता है- **विशिष्य आख्यायतेऽनेनेति व्याख्यानं प्रवृत्तिनिमित्तम्**(कू.भा., ख.व्या.)। **तस्य**-'ओम्' शब्द से प्रतिपाद्य ब्रह्म का (अक्षरशब्दार्थ होने में) **उप**-उपयुक्त **व्याख्यानम्**- व्याख्यान कहा जाता है अर्थात् अक्षर शब्द का अर्थ ('ओम्' शब्द से प्रतिपाद्य) ब्रह्म होने में अक्षर शब्द का उपयुक्त प्रवृत्तिनिमित्त कहा जाता है।

प्रवृत्तिनिमित्त

शब्द जिस निमित्त से अपने वाच्यार्थ का बोध कराता है, उसे

---

1. सामानाधिकरण्य को विस्तार से समझने के लिए 'विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन' ग्रन्थ देखना चाहिए।

प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं-**प्रवृत्तेः निमित्तं द्वारम्**(श्रु.प्र.1.1.1)। प्रत्येक शब्द का अपने वाच्यार्थ का बोध कराने का कोई न कोई निमित्त अवश्य होता है, इसे ही प्रवृत्तिनिमित्त[1] कहते हैं। जैसे घट शब्द का घट अर्थ का बोध कराने का निमित्त घटत्व है, यही घट शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है। जिस अर्थ में घटत्व नहीं होता, घट शब्द उसका बोध नहीं कराता। पट शब्द पटत्व निमित्त से पट अर्थ का बोध कराता है, इसलिए पट शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त पटत्व है। जिस अर्थ में पटत्व नहीं होता, पट शब्द उसका बोध नहीं कराता। नील शब्द नीलत्व निमित्त से नील अर्थ का बोध कराता है, इसलिए नील शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त नीलत्व है। उत्पल शब्द उत्पलत्व निमित्त से उत्पल अर्थ का बोध कराता है, इसलिए उत्पल शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त उत्पलत्व है। पाचक शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त पाककर्तृत्व है, जिसमें पाककर्तृत्व नहीं होता, उसे पाचक नहीं कहा जाता।

घट शब्द की शक्ति घट अर्थ में है इसलिए घट शब्द से घट अर्थ का बोध होता है, और पट शब्द की शक्ति पट अर्थ में है इसलिए पट शब्द से पट अर्थ का बोध होता है। घट शब्द की शक्ति घट अर्थ में क्यों है? और पट शब्द की शक्ति पट अर्थ में क्यों है? घट शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त घट में है और पट शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त पट में है, इसलिए घट, पट शब्दों की शक्ति उन उन अर्थों में होती है, इस प्रकार शब्दों की अर्थबोधकत्व शक्ति के निमित्त को प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं और वह शब्द का शक्यतावच्छेदकरूप होता है-**प्रवृत्तेः शब्दानाम् अर्थबोधनशक्तेः निमित्तं प्रयोजकम् इति, तच्च शक्यतावच्छेदकं भवति**।(त.चि.)।

अक्षर शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त

प्रस्तुत माण्डूक्यमन्त्र में प्रयुक्त अक्षर शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त अक्षरत्व है, इसका अर्थ है- स्वरूपतः और गुणतः निर्विकारत्व, वह ब्रह्म में होने से ब्रह्म अक्षर कहलाता है। पूर्व में अक्षर के निरूपण में निर्विकारत्व का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

---

1. यद्विशेषणं पुरस्कृत्यघटादिशब्दाः तत्तद्व्यक्तिषु प्रयुज्यन्ते, तद्विशेषणं प्रवृत्तिनिमित्तमित्युच्यते, वाच्यतावच्छेदकम् इति यावत् (वा.म.अ.)। स्ववाच्यत्वे सति स्ववाच्यवृत्तित्वे सति स्ववाच्योपस्थितीयप्रकारताश्रयत्वं प्रवृत्तिनिमित्तत्वम्।

त्रिकालातीत का वर्णन करने के लिए अब प्रसङ्गानुसार कालत्रयपरिच्छिन्न का वर्णन किया जाता है-

कालत्रयपरिच्छिन्न

कालत्रयपरिच्छिन्न का अर्थ है- भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल से परिच्छिन्न। जो पदार्थ भूतकाल में था, अभी नहीं है, वह भूतकाल से परिच्छिन्न कहलाता है। जो पहले नहीं था, अभी वर्तमान काल में है, वह पदार्थ वर्तमान काल से परिच्छिन्न कहलाता है अथवा जो वस्तु अभी है और आगे नहीं रहेगी, वह वर्तमान काल से परिच्छिन्न कहलाती है और जो वस्तु अभी नहीं है, आगे होगी, वह भविष्यकाल से परिच्छिन्न कही जाती है। घट, पटादि पदार्थ उत्पत्ति से पूर्व और विनाश के पश्चात् नहीं रहते, अत: वे कालत्रय से परिच्छिन्न होते हैं।

त्रिकालातीत

कालत्रयपरिच्छिन्न से भिन्न वस्तु कालत्रयाऽपरिच्छिन्न या त्रिकालातीत कहलाती है, उसका काल से परिच्छेद नहीं किया जा सकता क्योंकि वह तीनों कालों में रहती है। चेतन आत्मा त्रिकालातीत है। घटादि अचेतन पदार्थ तीनों कालों से परिच्छिन्न होने पर भी उनका मूल अचेतन प्रकृति भी त्रिकालातीत है क्योंकि वह भी आदि-अन्त से रहित है। इन दोनों के नित्य होने पर भी अचेतन प्रकृति के स्वरूप में परिणाम होता है किन्तु आत्मा के स्वरूप में कभी भी परिणाम नहीं होता, वह सदा एकरूप रहती है, यह दोनों में भेद है। स्वरूपत: और गुणत: विकाररहित ब्रह्म भी त्रिकालातीत है।

यच्चान्यत् त्रिकालातीतम् इस प्रकार आगे कथन होने से **भूतं भवद् भविष्यदिति** यहाँ भूतादि त्रिकाल से सम्बन्ध रखने वाला अर्थ प्रतीत होता है, फिर भी जैसे अतीत घटादि पदार्थ भूतकालमात्र से सम्बन्ध रखते हैं, वैसा त्रिकालवर्ती पदार्थ भूतकालमात्र से सम्बन्ध नहीं रखता अत: वह भूतकालातीत है। वर्तमान पदार्थ वर्तमानकालमात्र से सम्बन्ध रखता है किन्तु त्रिकालवर्ती पदार्थ वर्तमानकालमात्र से सम्बन्ध नहीं रखता अत: वह वर्तमानकालातीत है और जैसे भावी घटादि पदार्थ भविष्यकालमात्र से सम्बन्ध रखता है, वैसा त्रिकालवर्ती पदार्थ भविष्यकालमात्र से सम्बन्ध नहीं

रखता अतः वह भविष्यकालातीत है।

पूर्व में नष्ट हुए घट के ध्वंस(नाश) के समान त्रिकालातीत वस्तु का ध्वंस नहीं है, भविष्य में नष्ट होने वाले वर्तमान घट के समान भी इसका ध्वंस नहीं होता और जैसे भावी घट का प्रागभाव रहता है, वैसा यह प्रागभाव वाला भी नहीं है, इस प्रकार इसका सदा वर्तमानत्वरूप 'नित्यत्व' सिद्ध होता है। जैसे तीन रुपये वाला मनुष्य एक-एक रुपये वाले तीन मनुष्यों का अतिक्रमण करके रहता है, वैसे ही तीनों कालों से सम्बन्ध रखने वाला परमात्मा सभी का अतिक्रमण करके रहता है, तो श्रुति उसे 'त्रिकालसम्बन्धी' क्यों नहीं कहती? ऐसी शंका करना उचित नहीं क्योंकि जैसे मिट्टी तीन घटों (भूत, वंर्तमान और भावी) के द्वारा तीन कालों से सम्बन्ध रखती है, वैसा परमात्मस्वरूप तीन रूपों से तीन काल से सम्बन्ध नहीं रखता क्योंकि वह सर्वथा अविकारी है, इसे सूचित करने के लिए ही श्रुति त्रिकालसम्बन्धी न कहकर **भूतं भवद् भविष्यदिति** इस प्रकार कथन करती है अतः प्रस्तुत श्रुति के द्वारा तीनों कालों से सम्बन्ध रखने वाली सर्वथा निर्विकार त्रिकालातीत वस्तु ही कही जाती है। घटादि पदार्थ सदा नहीं रहते, वे विकारी होते हैं किन्तु घटादि का कारण अचेतन प्रकृति और जीवात्मा सदा रहते हैं उनमें प्रकृति स्वरूपतः विकारी है और बद्धावस्था में आत्मा गुणतः विकारी है, यह पूर्व में कहा ही गया है। त्रिकालातीत परमात्मा ही सर्वथा निर्विकार(अविकारी) है, इस प्रकार अक्षर शब्द का सर्वथा निर्विकारत्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त **भूतं भवद् भविष्यद्** इस वाक्य से कहा जाता है।

जगत् की अन्यरूपता का निषेध

पूर्व में **ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्** इस प्रकार जगत् की ब्रह्मरूपता कही थी, क्या जगत् की अन्यरूपता भी है, ऐसी शंका होने पर **सर्वमोंकार एव** कहा जाता है। **सर्वम्**- चेतनाचेतन सम्पूर्ण जगत् **ओंकारः**- ब्रह्म **एव**- ही है। यह श्रुति 'एव' पद के द्वारा जगत् की अन्यरूपता का निषेध करती है। पूर्व में अन्वय से जगत् की ब्रह्मरूपता कही थी और अब व्यतिरेक से उसे दृढ किया जाता है अतः यहाँ पुनरुक्ति की शंका करना उचित नहीं।

ओंकार

'ओम्' इस प्रकार ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है, इसलिए ब्रह्म ओंकार कहलाता है-**ओमित्याक्रियते प्रतिपाद्यत इत्योंकारः**[1](कू.भा., ख. व्या)।

ब्रह्म से भिन्न में प्रवृत्तिनिमित्त का निषेध

भूतम्.....इत्यादि से 'अक्षर' पद का जो स्वरूपतः और गुणतः निर्विकारत्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त कहा गया, वह ब्रह्म से अन्य किसी में संभव नहीं, श्रुति इस विषय को **यच्चान्यत्**.....इस प्रकार कहती है। अचेतन प्रकृति, चेतन आत्मा और इन दोनों का नियन्ता परमात्मा ये सभी त्रिकालातीत हैं, फिर भी प्रकृति और आत्मा में अक्षर शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं रहता क्योंकि वे निर्विकार नहीं हैं। श्रुति 'अन्यत्' पद से उन दोनों का निराकरण करती है, उन दोनों से भिन्न जो सर्वथा निर्विकार त्रिकालातीत वस्तु है, वह ही ब्रह्म है, इससे सिद्ध होता है कि 'अक्षर' पद का प्रवृत्तिनिमित्त ब्रह्म में ही है, उससे अन्य त्रिकालातीत पदार्थ में भी नहीं है। प्रकृति और आत्मा का त्रिकालातीतत्व है किन्तु वह निरुपाधिक (स्वाधीन) नहीं है, अपितु परमात्मा के अधीन है, तथापि परमात्मा का त्रिकालातीतत्व निरुपाधिक है। श्रुति में अन्यत् पद के प्रयोग से निरुपाधिक त्रिकालातीत ब्रह्म का ही प्रतिपादन होता है, अन्य का नहीं।

*पूर्व मन्त्र के **ओमित्येतदक्षरम्** इस अंश से ओम् पद के वाच्य अक्षर ब्रह्म को कहकर **इदं सर्वम्** से जगत् की ब्रह्मरूपता कही गयी फिर **तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति** इस प्रकार अक्षर पद का सर्वथा निर्विकारत्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त का प्रतिपादन करके **सर्वमोंकार एव** इस वाक्य से जगत् की अन्यरूपता का निषेध कर **यच्चान्यत् त्रिकालातीतम्, तदप्योंकार एव** इस वचन के द्वारा ब्रह्म के निर्विकारत्व को दृढता से समझाने के लिए ब्रह्म से अन्य निर्विकार वस्तु का निषेध किया गया, अब द्वितीय मन्त्र से ब्रह्मात्मक जगत् का निरूपण करते हुए*

---

1. कृञ् धातोः कर्मणि घञ्। **अचो ञ्णिति**(अ.सू.7.2.115) इति सूत्रेण वृद्धिः। **घञजबन्ताः**(लि.सू.) इति पुल्लिङ्गता।

उसका अन्तरात्मा ब्रह्म चतुष्पाद कहा जाता है-

द्वितीयो मन्त्रः

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्॥2॥

॥ इति प्रथमः खण्डः ॥

अन्वय

एतत् सर्वं ब्रह्म हि, अयम् आत्मा ब्रह्म। सः अयम् आत्मा चतुष्पात्[1]।

अर्थ

एतत्-यह चेतनाचेतनात्मक **सर्वम्**-जगत् **ब्रह्म**-ब्रह्म (ब्रह्मात्मक) **हि**-ही है, (इसलिए) **अयम्**-यह **आत्मा**-आत्मा(भी) **ब्रह्म**-ब्रह्म (ब्रह्मात्मक ही) है। **सः**-ओंकार का वाच्य **अयम्**-यह **आत्मा**-आत्मा (की अन्तरात्मा) ब्रह्म **चतुष्पात्**-चार पादों वाला है।

व्याख्या

ब्रह्मात्मक जगत्

प्रस्तुत श्रुति में आए 'सर्वम्' पद का जगत् अर्थ होता है। स्वरूपतः अथवा धर्मतः परिणाम को प्राप्त होने वाली वस्तु जगत् कहलाती है-**जगत् स्वरूपतो धर्मतो वा अन्यथात्वं गच्छत्।** (ई.उ.वे.भा.1) भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थान बनने के लिए अचेतन प्रकृति का महदादिरूपों में स्वरूपतः परिणाम होता है। अणु जीवात्मा हृदय में निवास करता है। जिस प्रकार दीपक कमरे के एक भाग में रहता है किन्तु उसके आश्रित रहने वाली प्रभा सम्पूर्ण कमरे में व्याप्त रहती है, उसी प्रकार अणु ज्ञानरूप आत्मा हृदय में रहती है किन्तु उसके आश्रित रहनेवाला धर्मभूतज्ञान समग्र शरीर में व्याप्त रहता है। आत्मा इसके द्वारा ही सम्पूर्ण विषयों का अनुभव करती है। कोई आत्मा अधिकज्ञान वाली होती है और कोई अल्पज्ञान वाली होती है, इसका कारण धर्मभूतज्ञान का संकोच और विकासरूप परिणाम है, इसे ही संसारी जीव का धर्मतः परिणाम कहा जाता है। यह संकोच और विकास पूर्व कर्मों के कारण होता है। चेतन आत्मा का

---

1. पादपदस्य **संख्यासुपूर्वस्य** (अ.सू.5.4.140)इत्यन्तलोपः(कृ.भा.)।

स्वरूपतः परिणाम नहीं होता किन्तु बद्धावस्था में उसके धर्मभूतज्ञान का अनादि कर्मरूप अज्ञानके कारण सुख, दु:ख, मोह तथा इच्छादि विविध रूपों में परिणाम होता है। जगत् ब्रह्म का शरीर है और वह जगत् की आत्मा। पूर्व मन्त्र की व्याख्या में जगत् की ब्रह्मरूपता के प्रतिपादन के प्रसङ्ग में कहा था कि चेतन और अचेतन शरीर के बोधक शब्द अपर्यवसान वृत्ति से ही उन-उन शरीरों का बोध कराते हुए उनके शरीरी ब्रह्म का भी बोध कराते हैं, वह वृत्ति मुख्य ही है किन्तु ब्रह्मबोधक शब्द लक्षणा से ब्रह्मात्मक अर्थ का बोध कराता है। प्रस्तुत मन्त्र में 'एतत् सर्वम्' पद अचेतन प्रकृति तथा चेतन जीवात्मा के बोधक हैं और ब्रह्म पद ब्रह्मात्मक अर्थ का बोधक है, इस प्रकार 'चेतनाचेतन सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक ही है, यह **सर्वं ह्येतद् ब्रह्म** का अर्थ निष्पन्न होता है। **ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य सः ब्रह्मात्मकः** इस प्रकार ब्रह्मात्मक का अर्थ ब्रह्म का शरीर होता है। यद्यपि **अक्षरमिदं सर्वम्** (मां.उ.1.1) इस वचन के द्वारा जगत् की आत्मा ब्रह्म का प्रतिपादन करने से जगत् ब्रह्मात्मक सिद्ध होता है, तथापि सब ब्रह्मात्मक ही है, अब्रह्मात्मक कुछ भी नहीं , इस अर्थ की दृढ़ता के लिए **सर्वं ह्येतद् ब्रह्म** यह श्रुति प्रवृत्त होती है।

ब्रह्मात्मक आत्मा

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म यह श्रुति सभी को ब्रह्मात्मक कहती है, सभी ब्रह्मात्मक होने से अपना आत्मस्वरूप भी ब्रह्मात्मक ही है, इस अर्थ की दृढता के लिए पुनः **अयमात्मा ब्रह्म** यह श्रुति उपस्थित होती है। **अयम्**- दृश्यमान जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयरूप नाना अवस्थाओं वाली **आत्मा**- आत्मा **ब्रह्म**- ब्रह्मात्मक है। ब्रह्म सबका आत्मा होने से अपना भी आत्मा है, इसलिए आत्मा ब्रह्मात्मक कही जाती है। **यः आत्मनि तिष्ठन्.** .... (बृ.उ.मा.पा.3.7.26) यह श्रुति भी आत्मा को ब्रह्मात्मक कहती है। उक्त विवरण से स्पष्ट है कि मुमुक्षु की 'मैं ब्रह्मात्मक ही हूँ' ऐसी दृढ भावना होनी चाहिए।

समस्त प्रणव का प्रतिपाद्य जो ब्रह्म है, तदात्मक (ब्रह्मात्मक) सभी हैं, ऐसा यहाँ प्रसङ्गानुसार अर्थ जानना चाहिए। जगत्-शरीरकत्वेन ब्रह्म के अनुसन्धान में ब्रह्म का विशेष्यत्वेन अनुसन्धान होता है और जगत् के

ब्रह्मात्मकत्वेन अनुसन्धान में ब्रह्म का विशेषणत्वेन अनुसन्धान होता है, ऐसा भी जानना चाहिए।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध अचिन्त्य, विविध-विचित्र रचना वाला चेतनाचेतन सम्पूर्ण जगत् की आत्मा ब्रह्म है, उससे जगत् व्याप्य है। भीतर और बाहर सभी ओर से जगत् को व्याप्त करके नारायण स्थित है-**अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः** (तै.ना.उ.94)सबके धारक परमात्मा में जो निवास करता है, वह परमात्मा से धार्य होता है और उसी नियन्ता परमात्मा से जो व्याप्य होता है, वह नियाम्य होता है। इस प्रकार जगत् का धार्यत्व और नियाम्यत्व भी सिद्ध होता है। विद्वान् पुरुष इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सत्त्व, तेज, बल और धृति को ब्रह्मात्मक कहते हैं तथा अचेतन शरीर और चेतन जीव को भी ब्रह्मात्मक कहते हैं- **इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः। वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च॥**(वि.स.ना.136)।

चतुष्पाद् ब्रह्म

उक्त रीति से समस्त प्रणव का प्रतिपाद्य ब्रह्म का उपासना के लिए निरूपण करके उस (प्रणव) के एकदेश अकार, उकार, मकार और नाद से प्रतिपाद्य ब्रह्म के विश्वादि चार रूपों की उपासना जो कि तृतीय खण्ड में वक्ष्यमाण है, उसे कहने के लिए अब उन रूपों को **सोऽयमात्मा चतुष्पात्** से प्रस्तावित करते है-

सः-समस्त प्रणव का प्रतिपाद्य **अयम्**-यह **आत्मा**-(की अन्तरात्मा)ब्रह्म **चतुष्पात्**-चार पादों वाला है। समस्त प्रणव का प्रतिपाद्य और जाग्रत् आदि चारों अवस्थाओं वाली आत्मा का अन्तरात्मा ब्रह्म है तथा प्रणव के एकदेश अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा से क्रमशः प्रतिपाद्य विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय हैं। प्रणव के अन्त में सुनायी देने वाला नादविशेष ही अर्धमात्रा कहलाता है। विश्वादि ब्रह्म के ही चार रूप हैं अतः यहाँ पाद का अर्थ है- रूप।

प्रणव के 4 पाद=अकार+उकार+ मकार+अर्धमात्रा।

ब्रह्म के 4 पाद=विश्व+ तैजस्+ प्राज्ञ+ तुरीय

वाचक	ओंकार (समस्त प्रणव)	1.अकार 2.उकार 3.मकार 4. अर्धमात्रा (व्यस्त प्रणव)
वाच्य	ब्रह्म	1.विश्व 2.तैजस 3.प्राज्ञ 4. तुरीय

॥ प्रथम खण्ड की व्याख्या समाप्त ॥

द्वितीयः खण्डः

पूर्व में कहे गये परमात्मा के चार पादों के स्थान क्या हैं? उनके कार्य क्या हैं? उनके रूप कैसे है? उनके भोग्य विषय कौन हैं? उनके नाम क्या हैं? इन सभी प्रश्नों के उत्तर क्रम से कहे जाते हैं-

प्रथमो मन्त्रः

हरिः ओम्।

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः[1] सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुक् वैश्वानरः प्रथमः पादः॥1॥

अन्वय

जागरितस्थानः वहिःप्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुक् वैश्वानरः प्रथमः पादः।

अर्थ

जागरितस्थानः-चक्षुस्थान वाला **बहिःप्रज्ञः**-बाह्य विषयों का ज्ञाता और ज्ञापक **सप्ताङ्गः**-सात अङ्गों वाला **एकोनविंशतिमुखः**-उन्नीस मुखों वाला **स्थूलभुक्**-स्थूल विषयों का भोग करने और भोग कराने वाला **वैश्वानरः**-वैश्वानर (परब्रह्म का) **प्रथमः**-प्रथम **पादः**-पाद है।

व्याख्या

प्रथमपाद

जागरितस्थान

जहाँ स्थित होकर जीव जागता रहता है, उस स्थान को जागरित कहते

1. 'बहिष्प्रज्ञः' इति पाठान्तरः।

हैं- **यत्र स्थित्वा जीवो जागर्ति, तत्स्थानं जागरितम्।**(आ.भा.), जीव चक्षु में स्थित होकर सदा जागता रहता है, इसलिए चक्षुस्थान को जागरित कहते हैं। जागरित (जीव का चक्षुस्थान) ही स्थान जिसका है, वह ब्रह्म जागरितस्थान कहलाता है-**तद् (जागरितम्) एव स्थानं यस्य स जागरितस्थानः**(कू.भा.)। व्यापक परमात्मा अन्तरात्मारूप से सदा जीवात्मा में स्थित रहता है। आत्मा जब चक्षु में रहती है, तब उसका अन्तरात्मा ब्रह्म भी उसके द्वारा चक्षु में रहता है इसलिए आत्मा की जाग्रत् अवस्था का निर्वाहक ब्रह्म जागरितस्थान कहा जाता है।

जाग्रत अवस्था में आत्मा की नेत्र में स्थिति जाननी चाहिए, स्वप्नावस्था में कण्ठ में और सुषुप्ति अवस्था में हृदय में स्थिति जाननी चाहिए तथा देह से उत्क्रमण करने वाली तुरीयावस्थापन्न आत्मा की मूर्धा में स्थिति जाननी चाहिए-**नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात्, कण्ठे स्वप्नं विनिर्दिशेत्। सुषुप्तं हृदयस्थन्तु तुरीयं[1] मूर्धनि स्थितम्॥**(ब्र.उ.)यह श्रुति जाग्रत आदि अवस्थाओं में जीवात्मा के स्थानों का वर्णन करती है, वे अवस्थाएं आत्मा की होती हैं, परमात्मा की नहीं। आत्मा जाग्रत अवस्था में स्थूल विषयों का अनुभव करने के लिए नेत्र आदि स्थानों में रहती है। प्रस्तुत श्रुति में नेत्र शब्द सभी इन्द्रियों का उपलक्षण है क्योंकि जाग्रत अवस्था में सभी इन्द्रियों के कार्य देखे जाते हैं। रूप और रूपवान् पदार्थों के ज्ञान के लिए अणु जीव की नेत्रमात्र में स्थिति मानने पर उसे शब्दादि का ज्ञान नहीं होगा अतः उन इन्द्रियों में स्थित होने का अर्थ है- उन इन्द्रियों का अधिष्ठाता(नियामक) होना। अणु जीव की एक इन्द्रिय में स्थिति मानने पर वह युगपद् दूसरी इन्द्रिय का अधिष्ठाता नहीं हो सकता इसलिए देखते समय या सुनते समय चलने और ग्रहण करने के लिए उपयोगी पाद और हस्त इन्द्रिय का अधिष्ठाता संभव न होने से यह मानना पड़ता है कि इन्द्रिय में आत्मा की स्थिति नहीं है किन्तु सभी इन्द्रियों के मूलस्थान हृदय में स्थित जो आत्मा है, वह धर्मभूतज्ञान के प्रसार द्वारा नेत्र आदि इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। वह हृदयस्थ आत्मा जाग्रत में नेत्र के द्वारा बाह्य विषय को देखती है इसलिए ब्रह्मोपनिषत् में इसका नेत्र स्थान कहा जाता है और इसी(आत्मा)के द्वारा

---

1. तुरीयशब्दः उत्क्रान्त्यवस्थजीवपरः (श्रु.प्र.1.2.18)।

प्रस्तुत माण्डूक्यश्रुति इसकी जाग्रत दशा के निर्वाहक परमात्मा का नेत्रस्थान कहती है।

जाग्रत अवस्था

स्वप्नावस्था से भिन्न, इन्द्रियद्वारा धर्मभूतज्ञान की विषयाकार वृत्ति को जाग्रत (जागरित)अवस्था कहते हैं। मन इन्द्रिय द्वारा धर्मभूतज्ञान की विषयाकार वृत्ति ही स्मृतिरूप स्वप्न है, उसमें अतिव्याप्तिनिवारण के लिए 'स्वप्न अवस्था से भिन्न' कहा गया है।

हृदि ह्येष आत्मा (प्र.उ.3.6) इत्यादि प्रमाणों के अनुसार स्वयंप्रकाश, ज्ञानरूप, अणु आत्मा हृदय में रहती है किन्तु उसके आश्रित रहने वाला धर्मभूतज्ञान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहता है। आत्मा इसके द्वारा ही विषयों का प्रकाश करती है। हृदय से सम्बद्ध नाड़ियों का सम्बन्ध इन्द्रियों से रहता है। मन हृदय में स्थित है। आत्मा का धर्मभूतज्ञान द्वारा मन से सम्बन्ध होता है। मनद्वारा वह धर्मभूतज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों से संयुक्त होता है और चक्षु आदि के द्वारा धर्मभूत ज्ञान का विषय से संयोग होकर विषयाकार वृत्ति होती है। धर्मभूतज्ञान की यह वृत्ति ही विषय का प्रकाश (अनुभव) कही जाती है। बाह्य विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर पूर्व काल में अनुभव किए गए विषयों के आकार की जो वृत्ति होती है, वह स्मरणरूप प्रकाश कही जाती है, यह द्विविध प्रकाश ही आत्मा की जाग्रत् अवस्था है।

बहि:प्रज्ञ

स्वप्नावस्था के अनुभाव्य विषय अन्तर् होते हैं और जाग्रत् के बाह्य। 'बहि:प्रज्ञ' शब्द में 'बहि:' का अर्थ बाह्य विषय है, जीवात्मा को उनका ज्ञान प्रकर्षता से कराता है और स्वयं भी उनको जानता है इसलिए जीव की जाग्रत् दशा का निर्वाहक परमात्मा **बहि:प्रज्ञ**[1] कहलाता है।

जाग्रत् अवस्था में जीवात्मा कभी इन्द्रियों से बाह्य रूप, रस, गन्ध,

---

1. बहिश्शब्दोदितबाह्यार्थान् प्रज्ञापयति जानाति चेति बहि:प्रज्ञः। जानातेरन्तर्णीतण्यर्थात् **इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः**(अ.सू.3.1.135)इति क प्रत्ययः। **आतो लोप इटि च** (अ. सू.6.4.64) इत्याकारलोपः(कू.भा.)।

स्पर्श और शब्द विषयों का प्रत्यक्ष अनुभव करता है और कभी मन से उनका स्मरण करता है, उसके सभी प्रकार के ज्ञान (अनुभव और स्मरण) का प्रधान साधन परमात्मा ही है इसलिए वह परमात्मा बहिःप्रज्ञ कहलाता है। प्राणी परमात्मा के द्वारा ही रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुन सुख को जानता है-**येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।** (क.उ.2.1.3)। परमात्मा से अनुगृहीत जीव सबको जानता है-**येनेदं सर्वं विजानाति।** (बृ.उ.2.4.14) इत्यादि श्रुतियों से जीवात्मा को सभी प्रकार के ज्ञान कराने वाले परमात्मा का प्रतिपादन होता है। **श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः**(के.उ. 1.2) यह केन मन्त्र भी जीव के ज्ञान के साधनरूप से प्रसिद्ध, सभी इन्द्रियों को सामर्थ्य देने वाले परमात्मा का प्रतिपादन करता है।

यः सर्वज्ञः सर्ववित् (मु.उ.1.10) इत्यादि वचन परमात्मा की सर्वज्ञता का निरूपण करते हैं, वह सर्वज्ञ होने से जीव की जाग्रत् दशा के विषयों को भी जानता है इस कारण भी परमात्मा बहिःप्रज्ञ कहलाता है।

सप्ताङ्ग

अन्तरिक्ष लोक परमात्मा की मूर्धा (मस्तक) है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, आकाश देह का मध्य भाग है, जल मूत्राशय है और पृथ्वी पैर हैं-**तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा सन्देहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथ्व्येव पादौ।**(छां.उ.5.18.2)इस प्रकार वैश्वानरविद्या में प्रतिपादित रीति से अन्तरिक्ष, सूर्य, वायु, आकाश, जल और पृथ्वीरूप से वर्णित मूर्धा, नेत्र, प्राण, मध्यदेह, मूत्राशय और पादरूप छः अङ्गों के साथ जाग्रत् दशा वाले जीव को लेने पर जीव की जाग्रत् दशा के निर्वाहक ब्रह्म के सात अङ्ग जानने चाहिए, इन सात अङ्गों वाला परमात्मा ही प्रस्तुत माण्डूक्य श्रुति में सप्ताङ्ग[1] शब्द से वर्णित है।

एकोनविंशतिमुख

यहाँ मुख का अर्थ है-साधन। 5 ज्ञानेन्द्रिय + 5 कर्मेन्द्रिय + 5 प्राण + 4 अन्तःकरण=19, इन एकोनविंशति मुखों के होने से जीव की जाग्रत

1. प्रस्तुत व्याख्या रङ्गरामानुजभाष्य, आनन्दभाष्य और प्रदीपिका व्याख्या के अनुसार है, कूरनारायणभाष्य के अनुसार चार हाथ, दो पैर और गजानन होने से एक

अवस्था के अधिष्ठाता भगवान् विश्व एकोनविंशतिमुख कहलाते हैं। 1.चक्षु, 2.श्रोत्र 3.घ्राण, 4. रसना और 5. त्वक् ये 5 ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। 1.वाक् 2.पाणि (हस्त) 3.पाद 4.पायु (गुदा) और 5.उपस्थ ये 5 कर्मेन्द्रियाँ हैं। 1.प्राण 2.अपान, 3.व्यान 4.उदान और 5.समान ये पञ्च प्राण हैं। 1.मन 2.बुद्धि 3.चित्त 4.अहंकार ये चार अन्तःकरण हैं। वेदान्तसिद्धान्त में मन का ही अन्तःकरणत्व प्रसिद्ध है। सभी वृत्तियाँ धर्मभूतज्ञान का परिणाम हैं, इनकी उत्पत्ति में मन सहायक है इसलिए मन की वृत्तियाँ कही जाती हैं। अध्यवसाय (निश्चयात्मिका) वृत्ति में महत् तत्त्व सहायक है, अहंकार (अभिमानात्मिका) वृत्ति में अहंकार तत्त्व सहायक है। चिन्तन (स्मरणात्मिका) वृत्ति में संस्कार सहायक है। जब मन के सम्बन्ध से धर्मभूतज्ञान की निश्चयात्मिका वृत्ति होती है, तब मन को बुद्धि कहा जाता है। इसी तरह जब मन के सम्बन्ध से धर्मभूतज्ञान की अभिमानात्मिका और चिन्तनात्मिका वृत्तियाँ होती हैं, तब मन को क्रमशः अहंकार और चित्त कहा जाता है। इस प्रकार 19 साधनों का निरूपण सम्पन्न होता है, इनमें ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान के साधन हैं, कर्मेन्द्रियाँ कर्म करने का साधन हैं और प्राण जीवनधारण करने का साधन है। अन्तःकरण की ज्ञानसाधनता प्रसिद्ध है। चक्षु आदि के साथ सम्बन्ध होने पर वह विषयों के प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन होता है और इनके साथ सम्बन्ध न होने पर स्मरणात्मक ज्ञान का साधन होता है। इन 19 मुखों का आश्रय जाग्रत अवस्था वाला आत्मा है और उसका आश्रय ब्रह्म है, इस प्रकार जाग्रत अवस्था वाले जीवात्मा के द्वारा ये ब्रह्म के मुख हैं[1],

---

सूड. को लेकर सात अङ्ग होते हैं-**चत्वारो हस्ताः, द्वौ पादौ, गजमुखत्वाद् गजहस्त एक इति सप्ताङ्गः।** (कू.भा), आचार्य आनन्दतीर्थ, श्रीराघवेन्द्रतीर्थ और अमोलकरामशास्त्री ने भी ऐसा ही कहा है। सुबोधिनी व्याख्या के अनुसार **भूतसूक्ष्मपञ्चकं धर्माधर्मौ चेति** इस प्रकार पञ्च भूतसूक्ष्म और दो धर्माधर्म को लेकर सात अङ्ग होते हैं, यहाँ यह ध्यातव्य है कि सुबोधिनीकार के मत में माण्डूक्योपनिषत् में आत्मस्वरूप का ही प्रतिपादन है, परमात्मा का नहीं।

1.'एकोनविंशतिमुखः' की यह व्याख्या रङ्गरामानुजभाष्य, आनन्दभाष्य, प्रदीपिका और सुबोधिनी के अनुसार है, कूरनारायणभाष्य के अनुसार गजमुख के आकार का मध्य मुख और दोनो ओर पुरुष के मुख के आकार के नव-नव मुख इस प्रकार 19 मुख जानने चाहिए-**मध्यममुखं गजमुखाकारं पार्श्वद्वये तु नव नव मुखानि पुरुषमुखाकाराणि इति विवेकः**(कू.भा., ख.व्या.)।

ऐसा जानना चाहिए।

स्थूलभुक्

स्वप्नावस्था के विषयों की अपेक्षा जाग्रत् के विषय दीर्घकालस्थायी होने से स्थूल कहे जाते हैं। स्थूल विषयों को (स्वयं) भोगता है और (जीव को उनका) भोग कराता है इसलिए जीव की जाग्रत् दशा का निर्वाहक ब्रह्म स्थूलभुक् कहलाता है- **स्थूलान् भोगान् भुङ्क्ते भोजयति चेति स्थूलभुक्।** (कू.भा.) अर्थात् वह स्थूल विषयों का भोक्ता और भोजयिता है। भोग का आश्रय होना भोक्ता का लक्षण है-**भोगवत्त्वं भोक्तृत्वम्।** जाग्रत् दशा के स्थूल विषयों के सुखात्मक अथवा दुःखात्मक भोग का आश्रय जीवात्मा भोक्ता होती है। सुख-दुःख का साक्षात्कार ही भोग है। अनुकूलत्वेन अनुभूयमान ज्ञान ही सुख है और प्रतिकूलत्वेन अनुभूयमान ज्ञान ही दुःख है, इस प्रकार सुख, दुःख ज्ञानरूप ही हैं, वे कभी अप्रकाशित (अज्ञात) नहीं रहते क्योंकि स्वयंप्रकाश हैं। ज्ञानरूप सुखदुःख का प्रकाश (साक्षात्कार) उनका स्वरूप ही है अतः सुख-दुःख ही भोग हैं और इनका आश्रय जीवात्मा भोक्ता होता है। आत्मा का ज्ञानाश्रयत्वरूप ज्ञातृत्व[1] स्वाभाविक धर्म है और सुखादि के प्रति भोक्तृत्व स्वाभाविक धर्म नहीं, वह औपाधिक है। कर्मरूप अविद्या उपाधि का अभाव होने पर मुक्तावस्था में सुख-दुःख ही नहीं होते तब जीवात्मा उनका भोक्ता नहीं होती।

श्रीसुदर्शन सूरि ने कहा है कि प्रकाशित होने वाली वस्तु जिसके लिए प्रकाशित होती है, उसे ज्ञाता(अनुभविता) कहते हैं-**भासमानं वस्तु यस्मै भाति, स हि ज्ञाता।** (श्रु.प्र.2.3.19) घटादि पदार्थ ज्ञान से प्रकाशित होते हैं और ज्ञान स्वयं प्रकाशित होता है। इस प्रकार विषय और ज्ञान ये दोनों ही प्रकशित होते हैं। ज्ञान से घटादि विषय आत्मा के लिए प्रकाशित होते हैं इसलिए आत्मा उनका ज्ञाता होती है। घटादि को विषय करने वाला ज्ञान भी आत्मा के लिए प्रकाशित होता है इसलिए वह ज्ञान का भी ज्ञाता होती है। ज्ञानविशेषरूप सुखादि आत्मा के लिए प्रकाशित होते हैं। आत्मा के लिए इनका स्वरूपभूत प्रकाश(ज्ञान) ही भोग है। यह सुखादि का

---

1. इसके लिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में 'ज्ञाता तथा ज्ञानरूप आत्मा' प्रकरण देखना चाहिए।

प्रकाशरूप भोग आत्मा के लिए होने से वह भोक्ता कहलाती है। जीवात्मा को जाग्रत् अवस्था के स्थूल विषयों का सुखात्मक अथवा दु:खात्मक भोग कराने वाला उस अवस्था का निर्वाहक परमात्मा स्थूलभुक् कहलाता है। परमात्मा का पुण्यपापजनक कोई कर्म नहीं है अत: उसका सुखदु:खरूप भोग भी नहीं है इसलिए वह सुखदु:खात्मक भोग का आश्रयरूप भोक्ता भी नहीं है तो स्थूल विषयों को स्वयं भोगता है इसलिए परमात्मा स्थूलभुक् है-**स्थूलान् भोगान् भुङ्क्ते इति स्थूलभुक्**।(कू.भा.) यह किस अभिप्राय से कहा जाता है? 1.परमात्मा का कर्म न होने पर भी उसे छत्रिन्याय से स्थूलभुक् कहते हैं। जिस प्रकार परिवार और परिकर के साथ राजा के जाने पर 'छत्रधारी जाते हैं-छत्रिणो यान्ति' ऐसा कहा जाता है। छत्रधारी केवल राजा होता है, दूसरा नहीं, फिर भी छत्र वाले राजा के साथ अन्य का सम्बन्ध होने से छत्रधारी और अन्य सभी का बोधक 'छत्रिणो यान्ति' यह वाक्यप्रयोग संभव होता है, उसी प्रकार केवल जीवात्मा स्थूलभुक् होता है, परमात्मा नहीं, फिर भी स्थूलभोग को भोगने वाला जीवात्मा के साथ सम्बन्ध होने से परमात्मा को स्थूलभुक् कहा जाता है अथवा 2.स्थूल विषय को भोगने में प्रयोज्य कर्ता जीव और प्रयोजक कर्ता परमात्मा है अत: स्थूल विषय को भोगने में दोनों का कर्तृत्व है इसलिए परमात्मा को भी स्थूलभुक् कहते हैं। जैसे पिता अपने पुत्र को पढ़ने के लिए विद्यालय भेजता है, शुल्क आदि देता है, उसे अध्यापक पढ़ाता है, फिर भी कहा जाता है कि पिता अपने पुत्र को विद्यालय में पढ़ाता है, अध्यापक पाठन क्रिया का प्रयोज्य कर्ता है, पिता प्रयोजक कर्ता है फिर भी अध्यापक के पढ़ाने पर पिता का पढ़ाना कहा जाता है, वैसे ही जीव का स्थूलभोग होने पर परमात्मा का भी स्थूलभोग कहा जाता है अथवा 3. जो भक्त मुझे पत्र, पुष्प, फल और जल भक्तिपूर्वक समर्पित करता है, उस निर्मल मन वाले भक्त की समर्पित उन वस्तुओं को मैं भोगता हूँ-**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन:**॥(गी.9.26) इस श्रीमद्भगवद्गीतावचन से परमात्मा का भोक्ता होना सिद्ध है। अनन्य भक्त के द्वारा जाग्रत् में समर्पित स्थूल पत्र, पुष्प और फलादि के भोक्ता परमात्मा प्रस्तुत मन्त्र में स्थूलभुक् शब्द से कहे

गये हैं।

वैश्वानर[1]

स्थूल विषय और उसके अनुभविता जीवात्मा से सम्बन्ध रखने वाला ब्रह्म वैश्वानर कहलाता है। सभी के द्वारा ज्ञेय जाग्रत् अवस्था के स्थूल विषय विश्व कहलाते हैं और ज्ञानाश्रयत्वेन ज्ञेय आत्मा भी विश्व कहलाता है. इस(विश्व) से भोक्तृत्वेन सम्बन्ध रखने वाला ब्रह्म वैश्व कहलाता है। विकार को प्राप्त न होने वाला नर कहलाता है। वैश्वश्चासौ नरश्चेति इस प्रकार कर्मधारय समास करने पर यह शब्द सिद्ध होता है। यह वैश्वानर भगवान् का प्रथम रूप है, इसे विश्व भी कहते हैं। इसका प्रणव के एक पाद अकार से प्रतिपादन किया जाता है, इस कारण श्रुति इसका पाद शब्द से निर्देश करती है।

द्वितीयो मन्त्रः

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः॥2॥

अन्वय

स्वप्नस्थानः अन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसः द्वितीयः पादः।

अर्थ

स्वप्नस्थानः- कण्ठस्थान वाला **अन्तःप्रज्ञः**- आन्तरिक विषयों का ज्ञाता और ज्ञापक **सप्ताङ्गः**-सात अङ्गों वाला **एकोनविंशतिमुखः**- उन्नीस साधनों वाला **प्रविविक्तभुक्**- सूक्ष्म पदार्थों का भोग करने और कराने वाला **तैजसः**- तैजस(परब्रह्म का) **द्वितीयः**- द्वितीय **पादः**- पाद है।

1. विश्यते गम्यते सर्वैः ज्ञायते इति विशतेः कर्मणि व प्रत्ययः। अनेकार्थत्वाद् धातूनां विशतिरत्र गत्यर्थस्सन् ज्ञानपरः। विश्वं सर्वैर्ज्ञेयं स्थूलं वस्तूच्यते। भोक्तृतया तत्सम्बन्धी वैश्वः। न रीयते न क्षीयत इति नरः। रीङ्.क्षये इति धातोः डप्रत्ययः। वैश्वश्चासौ नरश्चेति। **नरे संज्ञायाम्** (अ.सू.6.3.129) इति सूत्रेण भाष्योक्तनिरुक्तिबलाद् वा दीर्घे वैश्वानरः।(कू.भा., ख.व्या.)

व्याख्या

द्वितीयपाद

स्वप्नस्थान

जीव जहाँ स्थित होकर स्वप्न के पदार्थों को देखता रहता है, उस स्थान को स्वप्नस्थान कहते हैं-**यत्र स्थित्वा जीवः स्वाप्नपदार्थान् पश्यति, तत् स्वप्नस्थानम्।** (कू.भा.), जीव कण्ठ में स्थित होकर स्वप्न के पदार्थों को देखता रहता है, इसलिए कण्ठस्थान को स्वप्नस्थान कहते हैं। स्वप्नस्थान(जीव का कण्ठस्थान)ही जिसका स्थान है, वह स्वप्नस्थान कहलाता है, 'कण्ठस्थान में स्थित ब्रह्म' इसका अर्थ है-**तदेव स्थानं यस्य सः, कण्ठदेशस्थ इत्यर्थः**(कू.भा.)। आत्मा जब कण्ठ में रहती है, तब उसका अन्तरात्मा ब्रह्म भी उसके द्वारा कण्ठ में रहता है इसलिए आत्मा की स्वप्नावस्था का निर्वाहक ब्रह्म स्वप्नस्थान कहा जाता है। जीव स्वप्नावस्था में सूक्ष्म विषयों का अनुभव करने के लिए कण्ठ स्थान में रहता है।

स्वप्नावस्था में मन से अतिरिक्त इन्द्रियाँ व्यापाररहित हो जाती हैं। आत्मा स्वप्नस्थान हिता नाड़ी में आ जाती है, मन भी यहीं आ जाता है। यहाँ प्रवेश करने पर जीव का मन से अतिरिक्त इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं रहता। देह में जो हिता नाम वाली बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, वे जीव के निवासस्थान हृदय में प्रवेश करके उसके अन्दर स्थित पुरीतत् की ओर जाती हैं, जीव उन नाड़ियों से जाकर पुरीतत् में सोता है-**हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततम् अभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते।**(बृ.उ.2.1.19) यह श्रुति सुषुप्ति में जीव का स्थान पुरीतत् कहती है, उससे पूर्व स्वप्नावस्था में वह हिता नाडी में स्थित होता है। हिता नाड़ी कण्ठ की ओर भी जाती है अतः जीवात्मा हिता नाड़ी में स्थित होने पर भी **कण्ठे स्वप्नं विनिर्दिशेत्।**(ब्र.उ.)यह श्रुति स्वप्नावस्था में उसका कण्ठ स्थान कहती है।

स्वप्नावस्था

जाग्रत और सुषुप्ति की मध्यवर्ती अवस्था स्वप्नावस्था कही जाती है। बाह्य इन्द्रियों का व्यापार न होने पर, केवल अन्तर् इन्द्रिय मन का व्यापार होने पर जीव जब विषयों का अनुभव करता है, तब स्वप्नावस्था जाननी

चाहिए-**इन्द्रियाणां व्युपरमे मनोऽव्युपरतं यदि। सेवते विषयानेव तं विद्यात् स्वप्नदर्शनम्॥**(म.भा.शां.275.24), जाग्रत (जाग्रतकालीन ज्ञान) के समान स्वप्न(स्वप्नकालीन ज्ञान) भी दो प्रकार का होता है-1.स्मृति, 2. अनुभव।

1.स्मृतिरूप स्वप्न

जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्था के मध्य में कभी स्मृतिरूप स्वप्न होते हैं। जब चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियाँ अपने कार्यों से निवृत्त हो जाती हैं, मन से इनका कार्य करने के अनुकूल सम्बन्ध नहीं रहता अतः बाह्य इन्द्रियों के माध्यम से होने वाली वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब संस्कारों के कारण पूर्वकाल में अनुभव किये गये विषय की विशद स्मृति होती है, इसे ही स्मृतिरूप स्वप्न कहते हैं। कभी-कभी जाग्रत में अनुभूत वस्तु के संस्कार से गत जन्म के संस्कार को मिलाकर भी स्वप्न होता है। जाग्रत में अनुभूत मनुष्यशरीर के संस्कार से गत जन्म के पक्षीशरीर के संस्कार को मिलाकर स्वयं के उड़ने का स्वप्न होता है। स्थूलशरीर के कार्य जाग्रत में होते हैं, स्वप्न में नहीं किन्तु मन के कार्य दोनों अवस्थाओं में एक जैसे होते हैं। जाग्रत में स्थूलजगत् मन के कार्य का नियन्त्रण करता है। जाग्रत में कुछ सोचते हुए मार्ग में चलने वाला व्यक्ति अपने को भूल नहीं पाता, सामने से आते हुए वाहन आदि इसके मन को खींचते हैं। स्वप्न में बाह्य इन्द्रियों के कार्य नहीं होते इसलिए मन पर नियन्त्रण नहीं रहता। स्मृत्यात्मक स्वप्नका उल्लेख श्रीवेंकटनाथ वेदान्तदेशिक स्वामी ने **जिज्ञासाधिकरण**(ब्र.सू.1.1.1)के श्रीभाष्य की तत्त्वटीका में स्मृति की प्रत्यक्षसमानाकारता के प्रतिपादन के प्रसंग में किया है। स्मृतिरूप स्वप्न यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार का होता है-

क. यथार्थानुभवजन्य स्मृतिरूप स्वप्न विषयप्रकाश अंश में यथार्थ ही होते हैं तथापि स्वप्न के पदार्थों को चक्षु आदि से सम्बद्ध न होने पर भी उनको सम्बद्ध समझना तथा स्वप्नज्ञान चक्षु से जन्य न होने पर भी चक्षुजन्य समझना भ्रान्ति है।

ख. अयथार्थानुभवजन्य स्मृतिरूप स्वप्न अयथार्थ ही होते हैं।

2.अनुभवरूप स्वप्न

जाग्रतकाल में इन्द्रियाँ स्थूलशरीर के गोलको में रहकर विषय का प्रकाश तथा चलना-फिरना आदि कार्य करती हैं, इससे शनैः शनैः जीव को थकावट होती है। तब इन्द्रियाँ गोलकों को छोड़कर अन्दर जाने को उद्यत होती हैं। प्रश्नोपनिषत्(4.2)में प्रतिपादित है कि जैसे सांयकाल अस्ताचल में जाते हुए भगवान् भुवनभास्कर की किरणें प्रसरण के विना सूर्यमण्डल में एकीभूत हो जाती हैं, वैसे ही स्वप्नावस्था में जाते हुए जीवात्मा की चक्षु आदि इन्द्रियाँ गोलकों में स्थिति के विना मन में एकीभूत हो जाती हैं इसलिए स्वप्नकाल में जाग्रत्कालिक बाह्य इन्द्रियों से देखना, सुनना, सूँघना आदि कार्य नहीं होते किन्तु मन अपने कार्य में व्यापृत रहता है। प्रश्नोपनिषत् (4.5) के अनुसार जीव जाग्रत में देखे गए, सुने गये पदार्थों को स्वप्न में देखता है, सुनता है और जाग्रत में न देखे गए, न सुने गए पदार्थों को भी स्वप्नमें देखता है और सुनता है। इस श्रुति (प्र. उ.4.5)के रङ्गरामानुजभाष्य और प्रदीपिका व्याख्या में जाग्रतकालीन देह और चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों के उपरत होने पर स्वप्न में स्वप्नकालीन शरीर तथा चक्षु आदि इन्द्रियों की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। स्वप्नदर्शी का जाग्रतकालीन शरीर एक स्थान पर चेष्टारहित होकर पड़ा रहता है किन्तु वह स्वप्न में जाग्रतकालीन शरीर से भिन्न अपने शरीर को देखता है, इससे स्वप्नदेह की सृष्टि सिद्ध होती है। श्रुति स्वप्न में मन से अतिरिक्त जाग्रतकालीन चक्षु आदि इन्द्रियों के कार्य के अभाव का प्रतिपादन करती है किन्तु स्वप्नदर्शी स्वप्न में चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों से देखना, सुनना आदि कार्य करता है। इतना ही नहीं बल्कि जन्मान्ध व्यक्ति भी स्वप्न में रूप को देखता है, बधिर शब्द को सुनता है, इससे स्वप्न में चक्षु, श्रोत्र आदि की भी सृष्टि सिद्ध होती है। ज्ञानी का धर्मभूतज्ञान संकुचित न होने के कारण वह देह से उत्क्रमणकाल में मन सहित सभी इन्द्रियों को आत्मा में स्थित होने पर भी निर्गमननाड़ी को जानता है किन्तु स्वप्नद्रष्टा अज्ञानी जीव ऐसा नहीं कर सकता, उसकी चक्षु आदि इन्द्रियाँ मन में स्थित होने के कारण इनसे विषय का ज्ञान नहीं हो सकता, तब स्वप्नकाल में ईश्वररचित चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा प्रसरित धर्मभूतज्ञान से ईश्वररचित विषयों का प्रकाश होता है, इसे ही अनुभवरूप स्वप्न कहा जाता है।

ईश्वररचित स्वप्नसृष्टि

स्थूल कर्मों का फल जाग्रत अवस्था में भोगा जाता है किन्तु जो सूक्ष्म कर्म हैं, उनका फलभोग कराने के लिए स्वप्नावस्था आती है, उसमें जाग्रतकालिक स्थूल विषय न होने पर भी केवल स्वप्नद्रष्टा के द्वारा अनुभाव्य ईश्वररचित विषयों से व्यवहार चलता रहता है। जाग्रत अवस्था में सभी के द्वारा अनुभाव्य रथ, रथ को खींचने वाले अश्व और मार्ग स्वप्न में नहीं होते, परमात्मा केवल स्वप्नद्रष्टा के द्वारा अनुभाव्य रथ, अश्व और मार्ग की रचना करता है। जाग्रत् दशा के पदार्थों के समान स्वप्न में सरोवर, वापी और नदियाँ नहीं होतीं परमात्मा केवल स्वप्नद्रष्टा के द्वारा अनुभाव्य सरोवर, वापी और नदियों की रचना करता है। परमात्मा ही स्वप्न के पदार्थों का रचयिता है–**न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान्, रथयोगान् पथः सृजते। न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति, अथ वेशान्तान् पुष्करिण्य स्रवन्त्यः सृजते। स हि कर्ता॥** (बृ.उ.4.3.10) इत्यादि वचनों से स्वप्न के पदार्थ ईश्वररचित सिद्ध होते हैं। जाग्रत् और सुषुप्ति दशा के मध्य में विद्यमान उन पदार्थों का ज्ञान ही अनुभवात्मक स्वप्न है।

शंका

स्वप्नद्रष्टा मनुष्य जिस काल में जिस स्थान पर रथादि पदार्थों को देखता है, उसी काल में वहीं स्थित अन्य मनुष्य उन्हें नहीं देखते। स्वप्नद्रष्टा भी जागने के बाद वहाँ उन पदार्थों को नहीं देखता। स्वप्नदृश्य पदार्थों के स्थानान्तरित होने या विनष्ट होने के चिह्न उपलब्ध नहीं होते, ऐसे विचित्र स्वप्नकालीन पदार्थों की सृष्टि कैसे सम्भव होती है?

समाधान

सकलप्रपञ्चरूप नाटक का सूत्रधार सर्वेश्वर परमात्मा ही स्वप्नसृष्टि का कर्ता है–**स हि कर्ता**(बृ.उ.4.3.10), उस सर्वसमर्थ के द्वारा ही ऐसी विचित्र सृष्टि संभव होती है।

शंका

जीव जब स्वप्नके पदार्थों को देखता है–**स यत्र प्रस्वपिति।**(बृ.उ.4.3.

9) इस पूर्वश्रुति के आधार पर **स हि कर्ता** इस श्रुति में 'सः' पद के द्वारा जीव को ग्रहण करके स्वप्न के प्रपञ्च का निर्माता जीव को मानना चाहिए, ईश्वर को नहीं?

समाधान

स्वप्न के आश्चर्यमय पदार्थ ईश्वररचित हैं, जीवरचित नहीं क्योंकि उस समय जीव के सत्यसंकल्पत्वादि गुण पूर्णतः आविर्भूत नहीं होते-**मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्**(ब्र.सू.3.2.3)। जीवों के स्वप्नावस्था में जाने पर जो अपने संकल्प से स्वप्नद्रष्टा के अनुभवयोग्य भोग्य, भोगोपकरण और भोगस्थानरूप विविध, विचित्र पदार्थों की सृष्टि करते हुए जागता रहता है, वही सब का प्रकाशक, अमृतस्वरूप ब्रह्म कहा जाता है-**य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः, तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।**(क.उ.2.2.8) इस कठश्रुति में परमात्मा ही स्वप्न के पदार्थों के कर्ता कहे गये हैं, इसके साथ **स हि कर्ता** इस बृहदारण्यक श्रुति की एकार्थता होने से यह श्रुति भी परमात्मा को ही कर्ता कहती है। प्रस्तुत श्रुति का 'हि' पद प्रसिद्ध अर्थ में है, जो प्रसिद्ध परमात्मा सम्पूर्ण जगत् का कर्ता है, वही स्वप्न के पदार्थों का भी कर्ता है, यह श्रुति का तात्पर्य है। जीव उनका कर्ता नहीं हो सकता। मनुष्य सकाम कर्म में प्रवृत्त होने पर जब स्वप्न में स्त्री को देखता है, तब उस स्वप्नदर्शन के होने पर फल की सिद्धि जाननी चाहिए-**यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति, समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने।**(छां.उ.5.2.9)। जो मनुष्य स्वप्नमें काले दाँत वाले काले पुरुष को देखता है, वह स्वप्न उसे मार देता है- **अथ स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति, स एनं हन्ति।**(ऐ.आ.उ.3.2.4) इस प्रकार शुभाशुभ फल के सूचक स्वप्न शास्त्रों में वर्णित हैं। यदि जीव स्वप्न के पदार्थों का कर्ता होता, तो वह शुभ फल के सूचक स्वप्न के पदार्थों को ही बनाकर देखता किन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध होता है कि जीव स्वप्न के पदार्थों का कर्ता नहीं है। जीव स्वप्नावस्था में जाते समय भोग्य, भोगोपकरण आदि से युक्त जाग्रत प्रपंच की प्रकाशक इन्द्रियसमूह को लेकर उनमें मन से अतिरिक्त इन्द्रियों को क्रियारहित करके स्वप्नकालिक देहेन्द्रियादि का स्वयं निर्माण करके अपनी ज्योति से स्वप्न का अनुभव करता है- **अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामुपादाय स्वयं**

निहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति।(बृ.उ.4.3.9) यह श्रुति बताती है कि जीव पुण्यपापरूप अदृष्ट के द्वारा स्वप्न के पदार्थों का कर्ता है, साक्षात् कर्ता तो परमात्मा ही है, ऐसा न मानने पर उक्त कठश्रुति से विरोध उपस्थित होगा अतः यह स्वीकार करना चाहिए कि 'स्वयं निर्माय' यह वाक्य जाग्रतकाल के परिजन, परिकर की निरपेक्षता का प्रतिपादन करता है, ईश्वर की निरपेक्षता का प्रतिपादन नहीं करता। 'स्वप्नसृष्टि जीवरचित है' इस बात का निषेध ब्रह्मसूत्र के 'सन्ध्याधिकरण' (ब्र.सू.3.2.1)में किया गया है।

जिन सूक्ष्मकर्मों का फल जाग्रत में नहीं भोगा जा सकता, उन्हें भोगने के लिए श्रीभगवान् स्वप्न के पदार्थों की रचना करते हैं। हृदयस्थ जीव के लिए वहीं पर स्वप्नशरीर तथा अन्य दृश्य पदार्थों की सृष्टि होती है। जाग्रतकालीन स्थूल पदार्थों से स्वप्नकालीन सूक्ष्म पदार्थों का प्रतिघात (टकराव) नहीं होता इसलिए एक कमरे में पड़ा हुआ व्यक्ति वहीं पर बड़े-बड़े महल, नदी, पर्वत और सरोवर को भी देखता है। पूर्वशरीर से आत्मा नहीं निकलती।

शंका

बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा(बृ.उ.4.3.12) यह श्रुति स्वप्न में जीवात्मा का शरीर से बाहर निकलने का प्रतिपादन करती है, तो आप इसका निषेध क्यों करते हैं?

समाधान

यह श्रुति स्वप्न में जीवात्मा का शरीर से बाहर निकलने का प्रतिपादन नहीं करती बल्कि जिस प्रकार योगी की आत्मा एक ही शरीर में रहने पर भी धर्मभूतज्ञान के द्वारा तपोबल से रचित शरीरान्तर को धारण करके व्यवहार करती है, उसी प्रकार स्वप्नद्रष्टा की आत्मा सोये हुए एक शरीर में रहने पर भी ईश्वररचित शरीरान्तर को धारण करके व्यवहार करती है, ऐसा श्रुतप्रकाशिका व्याख्या के **सन्ध्याधिकरण**(ब्र.सू.3.2.1)में कहा गया है अतः '**बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा** यह श्रुति एक शरीर में रहते हुए ही आत्मा का धर्मभूतज्ञान के द्वारा शरीरान्तर से बाहर जाने का प्रतिपादन

करती है, स्वरूपतः आत्मा के बाहर जाने का प्रतिपादन नहीं करती' ऐसा जानना चाहिए। जाग्रत में विषय के प्रत्यक्ष के लिए आदित्यादि ज्योतियों की अपेक्षा रहती है, स्वप्न मे चक्षु आदि इन्द्रियों की अपने गोलकों में स्थिति न होने के कारण प्रसिद्ध आदित्यादि ज्योतियों की अपेक्षा नहीं रहती इसलिए आत्मा को स्वयंज्योति कहा जाता है। स्वप्नावस्था में यह आत्मा स्वयंज्योति है-**अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति**(बृ.उ.4.3.9, 4.3.14)। पुरुष जब तक जाग्रत देह में 'अहम्' ऐसा अभिमान करता है, तब तक जाग्रत के कार्यों में आसक्त होकर आदित्यादि ज्योतियों की अपेक्षा करता है किन्तु जब यह अभिमान निवृत्त हो जाता है, तब देह में स्थित चक्षु आदि गोलकों में चक्षु आदि इन्द्रियों की स्थिति न होने से आदित्यादि ज्योतियों की अपेक्षा नहीं रहती।

अनुभवरूप स्वप्नज्ञान सत्य ही है, मिथ्या नहीं। यदि वह मिथ्या होता तो जागने पर 'मैंने स्वप्न नहीं देखा' ऐसा अनुभव होना चाहिए किन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता इससे सिद्ध होता है कि स्वप्नज्ञान मिथ्या नहीं है, स्वप्न के पदार्थ भी मिथ्या नहीं हैं, वे ईश्वररचित हैं। जाग्रत और स्वप्न के पदार्थों में इतना अन्तर अवश्य है कि जाग्रत के पदार्थ सभी के द्वारा अनुभाव्य और दीर्घकालस्थायी होते हैं किन्तु स्वप्न के पदार्थ स्वप्नद्रष्टामात्र के द्वारा अनुभाव्य और स्वप्नकालमात्र स्थायी होते हैं। **रथान् रथयोगान् पथः सृजते**।(बृ.उ.4.3.10) यह श्रुति स्वप्न के पदार्थों को ईश्वररचित कहती है। ईश्वररचित पदार्थ मिथ्या नहीं होते, सत्य ही होते हैं।

फल के सूचक स्वप्न

अदृष्टवशात् होने वाले स्वप्न शुभाशुभ फल के जनक होते हैं। वात, पित्त तथा कफ दोष के वैषम्य से होने वाले स्वप्न फल के जनक नहीं होते। वातदोष के आधिक्य वाला मनुष्य स्वप्न में आकाशगमन, पर्यटन, व्याघ्रादि से भय और पलायन को देखता है। पित्तदोष की अधिकता वाला मनुष्य अग्निज्वाला, अग्नि में प्रवेश, वस्तुओं का जलना और सुवर्णमय पर्वत आदि को देखता है। कफ दोष की वृद्धि वाला मनुष्य नदीस्नान, समुद्रतरण, वर्षा तथा रजतमय पर्वत आदि को देखता है। स्मृतिरूप स्वप्न फल के जनक नहीं होते हैं किन्तु वातादिदोषों का वैषम्य न होने पर

अनुभवात्मक स्वप्न फल के जनक होते हैं। कभी कभी उच्च साधकों के स्वप्न पूर्णतः सत्य होते हैं, उन्हें भावी घटना का यथावत् चित्र उपस्थित होता है।

न्यायवैशेषिकमत

वैशेषिकदर्शन के भाष्यकार श्रीप्रशस्तपादाचार्य का कथन है कि विषयग्रहण से उपरत चक्षु आदि इन्द्रिय वाले और(पुरीतत् नाडी के बहिर्देश और अन्तर्देश की सन्धि में अथवा हिता नाडी में) प्रलीन मन वाले व्यक्ति का मन इन्द्रिय से जन्य जो मानस अनुभव है, वह स्वप्नज्ञान कहलाता है- **उपरतेन्द्रियग्रामस्य प्रलीनमनस्कस्येन्द्रियद्वारेणैव यदनुभवनं मानसं तत् स्वप्नज्ञानम्।**(प्र.भा.गु.) और वे 'अविद्यमानविषयक प्रत्यक्षाकार स्वप्नज्ञान उत्पन्न होता है'- **असत्सु विषयेषु प्रत्यक्षाकारं स्वप्नज्ञानमुत्पद्यते**(प्र.भा. गु.), इस प्रकार स्वप्नज्ञान को प्रत्यक्षानुभव के समान आकार वाला मानते हैं। तर्कभाषाकार केशवमिश्र के अनुसार स्वप्नावस्था का सारा ज्ञान स्मरणरूप है और अयथार्थ है- **स्वप्ने तु सर्वमेव ज्ञानं स्मरणमयथार्थं च**(त.भा.प्र.) किन्तु अन्नंभट्ट उसे स्मरणरूप न मानकर अनुभवरूप मानते है तथा अयथार्थानुभव मानकर मानसविपर्यय में अन्तर्भाव करते हैं, उन्होंने कहा है कि **अयथार्थानुभवं विभजते- अयथार्थेति। स्वप्नस्य मानसविपर्ययरूपत्वान् न त्रैविध्यविरोधः।**(त.दी.गु.), उदयनाचार्य के अनुसार 'स्वप्नज्ञान का अनुसन्धान स्मरामि अथवा स्मृतम् इस आकार का नहीं होता, अपितु पश्यामि अथवा दृष्टम् इत्यादि आकार का होता है, इससे यह स्पष्ट है कि स्वप्नज्ञान प्रत्यक्षात्मक अनुभवस्वरूप ही है, स्मृतिस्वरूप नहीं'-**स्मरामि स्मृतं वेति स्वप्नानुसन्धानाभावात्, पश्यामि दृष्टमित्यनुव्यवसायात्, न चारोपितं तत्रानुभवत्वम्।**(न्या.कु.प.)और कोई स्वप्न ज्ञान सत्य भी होता है क्योंकि जाग्रत में उसकी अन्य प्रमाण से पुष्टि एवं वह सफलप्रवृत्ति का जनक होता है-**अस्ति च स्वप्नानुभवस्यापि कस्यचित् सत्यत्वम्, संवादात्।**(न्या.कु.प.) इस प्रकार उदयनाचार्य के मत में सभी स्वप्न ज्ञान मिथ्या नहीं होते, अपितु सत्य भी होते हैं।

अन्तःप्रज्ञ

पूर्व में स्मृत्यात्मक और अनुभवात्मक इन दो प्रकार के स्वप्नों का

निरूपण किया गया, उक्त द्विविध स्वप्नों के विषय जाग्रत के विषयों के समान बाह्य न होने से अन्तर् कहलाते हैं, उनमें स्मृत्यात्मक स्वप्न के विषय स्वप्नकाल में अविद्यमान होते हैं और अनुभवात्मक स्वप्न के विषय स्वप्नकाल में विद्यमान होते हैं। जीवात्मा को स्वप्न के विषयों का प्रकर्षता से ज्ञान कराता है और स्वयं भी उनको जानता है इसलिए जीव की स्वप्न दशा का निर्वाहक परमात्मा अन्तःप्रज्ञ[1] कहलाता है। जीवात्मा के सभी प्रकार के ज्ञानों का प्रधान साधन परमात्मा ही उसे द्विविध स्वप्न के विषयों का ज्ञान कराता है। जीव के स्मरणात्मक स्वप्न का ज्ञान भी भगवान् के अधीन है और जिन विषयों को जाग्रत् में नहीं जाना जा सकता है, उन सूक्ष्म विषयों का ज्ञान कराने के लिये श्रीभगवान् स्वप्न के विषयों की रचना करके उनका भी ज्ञान कराते हैं और सर्वज्ञ होने से उन सभी को स्वयं भी जानते हैं।

सप्ताङ्ग

जैसे विश्व सप्ताङ्ग है, वैसे ही जीव की स्वप्नावस्था का निर्वाहक तैजस भी सप्ताङ्ग है। जाग्रत् के अन्तरिक्षादिरूप से वर्णित मूर्धादि पदार्थ विश्व के अङ्ग हैं और स्वप्नकाल के ईश्वररचित वे ही पदार्थ तैजस के अङ्ग होते हैं, इसका शेष विवरण जाग्रतस्थान के सप्ताङ्ग के समान समझना चाहिए।

एकोनविंशतिमुख

प्रश्नोपनिषत् (4.5) के अनुसार जीवात्मा जाग्रत् अवस्था में देखे गये, सुने गये विषय को स्वप्न में देखता है, सुनता है और उस अवस्था में न देखे गये, न सुने गये विषय को भी स्वप्न में देखता है, सुनता है। इस आधार पर उक्त प्रश्नश्रुति के रङ्गरामानुज भाष्य में जाग्रत्काल में विद्यमान चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों के उपरत होने पर स्वप्नावस्था में चक्षु आदि इन्द्रियों की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। उस समय पूर्वकालिक चक्षु आदि इन्द्रियाँ मन में स्थित होने के कारण विषय का प्रकाशक नहीं हो सकतीं तथापि स्वप्नकाल में ईश्वररचित चक्षु आदि से सूक्ष्म विषय का प्रकाश

1.अन्तःशब्देन स्वप्नकालीनज्ञानविषयाः पदार्था उच्यन्ते, तान् प्रकर्षेण ज्ञापयति जानाति चेत्यन्तःप्रज्ञः।

होता है। स्वप्नकाल में ईश्वररचित 5 ज्ञानेन्द्रिय+5 कर्मेन्द्रिय+5 प्राण+(उस समय लीन न होने वाले)4 अन्तःकरण=19, ये एकोनविंशति मुख स्वप्नावस्था वाले जीव के द्वारा तैजस परमात्मा के होते हैं। इसका शेष विवरण जाग्रत के एकोनविंशतिमुख के समान जानना चाहिए।

प्रविविक्तभुक्

जाग्रत् अवस्था के स्थूल पदार्थों से विलक्षण स्वप्न[1] के अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ विविक्त कहलाते हैं, उनका स्वयं भोग करने वाला और जीव को भोग कराने वाला परमात्मा तैजस प्रविविक्तभुक् कहा जाता है-**प्रविविक्तान् बाह्यार्थपेक्षया भिन्नान् सूक्ष्मान् स्वप्नकालीनर्थान् भुङ्क्ते भोजयति च जीववर्गमिति प्रविविक्तभुक् तैजस।**(आ.भा.), केवल स्वप्नावस्था में विद्यमान सूक्ष्म विषयों का स्वप्नद्रष्टामात्र को सुखात्मक अथवा दुःखात्मक भोग कराने वाला उस अवस्था का निर्वाहक परमात्मा प्रविविक्तभुक् है।

यह पूर्व में कहा गया था कि जीवात्मा के सूक्ष्म कर्मों का फल भोगने के लिए स्वप्नावस्था आती है। परमात्मा का कोई कर्म नहीं है अतः उसका सुखदुःखरूप भोग नहीं है इसलिए वह सुखदुःखात्मक भोग का आश्रयरूप भोक्ता भी नहीं है तो प्रविविक्त विषयों को स्वयं भोगता है इसलिए परमात्मा प्रविविक्तभुक् है- **प्रविविक्तान् अर्थान् भुङ्क्ते इति प्रविविक्तभुक्।** (कू.भा.) यह किस अभिप्राय से कहा जाता है? 1.परमात्मा का कर्म न होने पर भी उसे छत्रिन्याय से प्रविविक्तभुक् कहते हैं। जिस प्रकार परिवार और परिकर के साथ राजा के जाने पर 'छत्रधारी जाते हैं- छत्रिणो यान्ति' ऐसा कहा जाता है। छत्रधारी केवल राजा होता है, दूसरा नहीं, फिर भी छत्र वाले राजा के साथ अन्य का सम्बन्ध होने से छत्रधारी और अन्य सभी का बोधक 'छत्रिणो यान्ति' यह वाक्यप्रयोग संभव होता है, उसी प्रकार केवल जीवात्मा प्रविविक्तभुक् होता है, परमात्मा नहीं, फिर भी प्रविविक्त भोग को भोगने वाला जीवात्मा के साथ सम्बन्ध होने से परमात्मा को प्रविविक्तभुक् कहा जाता है अथवा 2. प्रविविक्त विषय को भोगने में प्रयोज्य कर्ता जीव और प्रयोजक कर्ता

1.विषयानुभव से जन्य स्मरणात्मक स्वप्न का विषय विद्यमान ही नहीं होता अतः यहाँ अनुभवात्मक स्वप्न समझना चाहिए।

परमात्मा है अतः विषय को भोगने में दोनों का कर्तृत्व है इसलिए परमात्मा को भी प्रविविक्तभुक् कहते हैं। जैसे पिता अपने पुत्र को पढ़ने के लिए विद्यालय भेजता है, शुल्क आदि देता है, उसे अध्यापक पढ़ाता है, फिर भी कहा जाता है कि पिता अपने पुत्र को विद्यालय में पढ़ाता है। अध्यापक पाठन क्रिया का प्रयोज्य कर्ता है, पिता प्रयोजक कर्ता है फिर भी अध्यापक के पढ़ाने पर पिता का पढ़ाना कहा जाता है, वैसे ही जीव का प्रविविक्तभोग होने पर परमात्मा का भी प्रविविक्तभोग कहा जाता है अथवा 3.जो भक्त मुझे पत्र, पुष्प, फल और जल भक्तिपूर्वक समर्पित करता है, उस निर्मल मन वाले भक्त के द्वारा समर्पित उन वस्तुओं को मैं भोगता हूँ-**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥**(गी.9.26) इस श्रीमद्भगवद्गीतावचन से परमात्मा का भोक्ता होना सिद्ध है। अनन्य भक्त के द्वारा स्वप्न में समर्पित प्रविविक्त पत्र, पुष्पादि के भोक्ता परमात्मा प्रस्तुत माण्डूक्यमन्त्र में प्रविविक्तभुक् शब्द से कहे गये हैं। **जीवस्य प्रविविक्तभुक्त्वात् तदधिष्ठातुः तैजसशब्दितस्य प्रद्युम्नस्यापि प्रविविक्तभुक्त्वोक्तिर्द्रष्टव्या** (रं.भा.)इस प्रकार रङ्गरामानुजभाष्य के अनुसार स्वप्नदशापन्न जीव प्रविविक्तभुक् होने से उसके अधिष्ठाता तैजस शब्द से कहे जाने वाले भगवान् प्रद्युम्न भी प्रविविक्तभुक् कहे जाते हैं।

तैजस

यहाँ तेज का अर्थ तेजोमय मन है, उसमें स्थित होने के कारण उस मन के साथ सम्बन्ध होने से स्वप्नावस्था का निर्वाहक परमात्मा तैजस कहा जाता है-**तेजोमयचित्तस्थतया चित्तसम्बन्धित्वेन तैजसनामा**(कू. भा., ख.व्या.)। स्वप्नावस्था में अन्य इन्द्रियों की अपने अपने व्यापारों से उपरति होने पर भी मन तेज के समान विषयों को प्रकाशित करता रहता है, इसलिए उसे तेज कहते हैं। सर्वव्यापक परमात्मा की तेज(मन) में भी स्थिति होने के कारण उसका तेज के साथ सम्बन्ध होता है, इसलिए वह परमात्मा तैजस नाम वाला होता है। आनन्दभाष्य भी तैजस की यही व्याख्या प्रस्तुत करता है। रङ्गरामानुजभाष्य के अनुसार जीव के स्वप्नावस्था के अधिष्ठाता तैजस स्वप्नदर्शी से अन्य को ज्ञात न होने वाले स्वप्न के

अतिसूक्ष्म पदार्थों को स्वप्नदर्शी के लिए तेज के समान प्रकाशित करते हैं, इसलिए तैजस कहलाते हैं-**इतराविदितानामतिसूक्ष्माणां स्वाप्नपदार्थानां तेजोवद्भासकत्वात् प्रद्युम्नस्य स्वप्नाधिष्ठातुः तैजसोक्तिः।** परमात्मा का द्वितीय रूप तैजस है- **आत्मनो द्वितीयः पादः द्वितीयं रूपमित्यर्थः।**(कू. भा., ख.व्या.)।

तृतीयो मन्त्रः

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते, न कंचन स्वप्नं पश्यति, तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एव आनन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।।3।।

अन्वय

यत्र सुप्तः कंचन कामं न कामयते, कंचन स्वप्नं न पश्यति, तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थानः एकीभूतः एव प्रज्ञानघनः हि आनन्दमयः आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः तृतीयः पादः।

अर्थ

यत्र- जिस स्थान में **सुप्तः**- सोया हुआ जीव (आनन्दरूप परमात्मा को प्राप्त कर) **कंचन**- किसी **कामम्**- विषय की **न कामयते**- कामना नहीं करता (और) **कंचन**- किसी **स्वप्नम्**- स्वप्न (के दृश्य) को (भी) **न**- नहीं **पश्यति**-देखता **तत्**- उस हृदयस्थान को **सुषुप्तम्**- सुषुप्त कहते हैं। **सुषुप्तस्थानः**- हृदयाकाशस्थान वाला **एकीभूतः**- विश्व और तैजस से एकता को प्राप्त होकर **एव**- ही (निद्राकाल में) **प्रज्ञानघनः**- आत्मा को उसके स्वरूप का अनुभव कराने वाला और स्वयं भी अनुभव को करने वाला **हि**- प्रसिद्ध **आनन्दमयः**- प्रचुर आनन्द वाला परमात्मा (सुषुप्ति में ही जीव को) **आनन्दभुक्**- आनन्दरूप आत्मा का भोग करने और कराने वाला है, वह **चेतोमुखः**- ज्ञानरूप साधन वाला **प्राज्ञः**- प्राज्ञ (ओंकार के वाच्य परमात्मा का) **तृतीयः**- तीसरा **पादः**- पाद है।

व्याख्या

तृतीयपाद

सुषुप्त

किसी पदार्थ को प्राप्त करने की कामना का कारण राग होता है और परिहार की कामना का कारण द्वेष होता है। इस प्रकार रागद्वेष से जन्य कामना सिद्ध होती है और कामना न करने का कारण उनका अभाव होता है। जीव जाग्रतदशा में बाह्य स्थूल पदार्थो को देखता है और स्वप्न में सूक्ष्म को। जिस स्थान में निद्रा को प्राप्त हुआ जीव रागद्वेषादि विकारों से रहित होकर कोई कामना नहीं करता, जाग्रत और स्वप्न के भी विषयों को नहीं देखता, वह सुषुप्त कहलाता है। हृदयाकाश स्थान में सोया हुआ जीव परमात्मा को प्राप्त कर कोई कामना नहीं करता और स्वप्न के भी दृश्य को नहीं देखता, वह हृदयाकाश ही सुषुप्त कहलाता है।

सुषुप्तस्थान

हृदयाकाश ही जिसका स्थान है, वह परमात्मा सुषप्तस्थान कहलाता है-**सुषुप्तमेव स्थानं यस्यः स सुषुप्तस्थानः**।(कू.भा., ख.व्या.), सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा का स्थान हृदयाकाश ही जिसका स्थान है, वह जीव की सुषुप्ति दशा का निर्वाहक परमात्मा सुषुप्तस्थान कहलाता है। सुषुप्ति काल में जीव हृदयाकाश में रहता है, उसका अन्तरात्मा ब्रह्म भी वहीं रहता है, इस प्रकार सुषुप्तिकाल में जीव का स्थान ही ब्रह्म का स्थान होने से वह सुषुप्तस्थान कहा जाता है। आगे सुषुप्ति अवस्था के निरूपण में सुषुप्ति दशा वाले जीव का स्थान पुरीतत् कहा जाएगा, वह भी हृदय का भाग होने से हृदय ही है, ऐसा जानना चाहिए। अब प्रसंगानुसार सुषुप्ति अवस्था का निरूपण किया जाता है-

सुषुप्ति अवस्था

जीवनकाल में जीव की मूर्च्छा अवस्था से भिन्न सभी इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान के अभाव की अवस्था ही सुषुप्ति अवस्था कहलाती है। जीव जाग्रत और स्वप्नावस्था में देह और इन्द्रियों से विविध कर्म करता हुआ फल भोगता रहता है, इससे शरीर और इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं अतः

वह विश्राम करने के लिए सुषुप्ति में जाता है। जैसे बहेलिये के हाथ में विद्यमान धागे में बंधा पक्षी सभी दिशाओं में उड़कर कहीं भी विश्राम न पाकर उस हाथ में ही आ जाता है, इसी प्रकार हे सोम्य! जीव के प्राण में बंधा मन जाग्रत और स्वप्न में नाना प्रकार के विषयों को ग्रहण करके बाहर कहीं विश्राम न पाकर विश्राम पाने के लिए मुख्य प्राण में ही आ जाता है-**स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनम् अलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते। प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति**(छां.उ.6.8.2)। स्वप्नावस्था में वाक् आदि इन्द्रियों के मन में लीन हो जाने पर मन अपना कार्य करता रहता है किन्तु सुषुप्ति में मन भी प्राण में लीन हो जाता है। वह प्राण सुषुप्तिकाल में जीव की इच्छा और प्रयत्न के विना परमात्मा के संकल्प से प्रेरित होकर शरीर की रक्षा करता रहता है-**प्राणः शरीरं परिरक्षति** (सु.उ.4)।

कौषीतकीश्रुति के अनुसार सुषुप्तिकाल में जीव की वाक् इन्द्रिय अपने सभी नामोच्चारण कार्यों के साथ परमात्मा में लीन हो जाती है, चक्षु इन्द्रिय अपने रूपादिदर्शनरूप कार्यों के साथ लीन हो जाती हैं, श्रोत्र इन्द्रिय सभी शब्दज्ञानरूप कार्यों के साथ लीन हो जाती है, मन चिन्तनादिरूप सभी कार्यों के साथ लीन हो जाता है-**तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति, चक्षुः सर्वैः रूपैः सहाप्येति, श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति, मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येतीति**(कौ.उ.4.39)। सुषुप्ति में विषय बाहर विद्यमान ही होते हैं। बौद्धदर्शन के समान वेदान्त में इनका अपलाप मान्य नहीं है, इसलिए उक्त श्रुति में कथित नामरूप के अप्यय का अर्थ होता है-नामरूप को विषय करने वाले वाक्, चक्षु आदि के व्यापारों का लय। जैसे बाज या गरुड़ पक्षी आकाश में चारों ओर उड़कर थक जाने पर पंखों को फैलाकर विश्राम के लिए घोंसले में ही आ जाता है, वैसे ही यह जीवात्मा जाग्रत और स्वप्न में इधर-उधर संचरण करके थक जाने पर विश्राम के लिए ब्रह्म में ही आ जाता है- **तद् यथा अस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ सल्लयायैव ध्रियते, एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति**(बृ.उ.4.3.19)।

जाग्रत अवस्था में सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने गोलकों में रहकर

कार्यसम्पादन करती हैं. स्वप्न में आत्मा के हिता नाड़ी में आने पर मन भी इसी नाड़ी में आ जाता है। सुषुप्ति में आत्मा का पुरीतत् में प्रवेश होने पर मन भी उसी के साथ पुरीतत् में प्रविष्ट हो जाता है। अब मन भी क्रियारहित हो जाता है। जब जीव की इन्द्रियाँ क्रियारहित हो जाती हैं, तब वह बाह्य विषयों के सम्पर्क के कारण होने वाले काम आदि विकारों से रहित होता है तथा स्वप्न के पदार्थों का भी अनुभव नहीं करता, उस समय वह (पुरीतत् में स्थित ब्रह्म में जाने के लिए) नाड़ियों में प्रविष्ट होता है- **तद् यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति, आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति** (छां.उ.8.6.3)। जब जीव सुषुप्ति को प्राप्त होता है, बाह्य और आन्तरिक किसी भी विषय को नहीं जानता। देह में जो हिता नाम वाली बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, वे जीव के निवासस्थान हृदय में प्रवेश करके उसके अन्दर स्थित पुरीतत् की ओर जाती हैं, तब जीव उन नाड़ियों से जाकर पुरीतत् में सोता है- **अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्यचन वेद, हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततम् अभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते** (बृ.उ.2.1.19)। हे सोम्य! जिस समय जीव सुषुप्ति को प्राप्त होता है, ऐसा कहा जाता है, उस समय वह सत् शब्द के वाच्य परमात्मा से संश्लिष्ट (आलिंगित)होता है- **यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति** (छां.उ.6.8.1)। यहाँ उद्धृत तीन श्रुतियों में प्रथम श्रुति सुषुप्तिकाल में जीव का आश्रय नाड़ी, द्वितीय पुरीतत् तथा तृतीय परमात्मा को कहती है। इन तीनों कथनों में कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार भवन में सोता है, चारपाई पर सोता है, बिस्तर पर सोता है, इन वाक्यों का अर्थ है कि भवन में चारपाई पर विद्यमान बिस्तर पर सोता है अतः इन तीनों कथनों में विरोध नहीं है, उसी प्रकार नाड़ियों में सोता है, पुरीतत् में सोता है, परमात्मा में सोता है। इन वाक्यों का अर्थ है कि नाड़ियों में पुरीतत् में विद्यमान परमात्मा में सोता है अतः सुषुप्तिकाल में जीव का साक्षात् आश्रय परमात्मा ही है, इस विषय का निर्णय ब्रह्मसूत्र के **तदभावाधिकरण** (3.2.2) में किया गया है। परमात्मा से सुषुप्ति में आलिंगित आत्मा का बृहदारण्यक श्रुति इस प्रकार वर्णन करती है कि जैसे मनोऽनुकूल प्रिया भार्या से आलिंगन को प्राप्त हुआ मनुष्य न तो बाह्य घटादि पदार्थों को जानता है और न ही आन्तरिक

शोक-मोहादि को, वैसे ही सर्वज्ञ परमात्मा से आलिंगित जीव न तो बाह्य घटादि को जानता है और न ही आन्तरिक शोक-मोहादि को-**तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्। एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्॥**(बृ.उ.4.3.21) बाह्य और आन्तरिक ज्ञान के न होने में प्रस्तुत दृष्टान्त है, जैसे प्रिया और पति का परिष्वंग(आलिंगन) तथा तज्जन्य विषयसुख होता है, वैसा दार्ष्टान्त में नहीं है क्योंकि सुषुप्ति में जीव के साथ शरीर का सम्बन्ध नहीं रहता, तब निष्क्रिय रहने वाला निरवयव जीवात्मा परमात्मा में स्थित हो जाता है। यहाँ अंगों का आलिंगन नहीं है। इस समय जीव अपने से अतिरिक्त किसी को नहीं जानता क्योंकि कर्मरूप अज्ञान से आवृत्त होने के कारण ज्ञानगुण अत्यन्त संकुचित हो जाता है। स्वयंप्रकाश आत्मा अपना प्रकाश करती रहती है। इस समय आत्मस्वरूप का प्रकाश होता है किन्तु ब्रह्म का ज्ञान न होने से ब्रह्मात्मकत्वेन अपना प्रकाश नहीं होता। सुषुप्तिकाल में भी जीव का शरीर नियाम्य होकर रहता है। नियमन करने के लिये ज्ञान और इच्छा अपेक्षित होती हैं। सुषुप्त जीव में ज्ञान और इच्छा संभव नहीं, इसलिए उस समय जीव अपने शरीर का नियामक नहीं होता, उस समय परमात्मा उसका साक्षात् नियामक होता है, उससे नियाम्य होने के कारण वह परमात्मा का शरीर कहा जाता है, जीव का नहीं कहा जाता। इस प्रकार सुषुप्ति में जीव के शरीर का त्याग होता है। शरीर के सम्बन्ध से ही जीव के देवदत्त आदि नाम होते हैं। सुषुप्ति में जीव के शरीर का त्याग होने से उसके नाम का भी त्याग होता है। सुषुप्ति काल में जीव की परमात्मा में अविभागेन स्थिति होने के कारण जीव के नामरूप का त्याग होता है। सुषुप्ति में जीव के शरीर का नाश नहीं होता, उस काल में उसके शरीर का साक्षात् नियामक परमात्मा होता है इसलिए सुषुप्ति में जीव के नाम और रूप(शरीर)का त्याग कहा जाता है। सुषुप्ति और मुक्ति इन दोनों अवस्थाओं में जीव की परमात्मा में स्थिति होने पर भी दोनों में यह भेद है कि सुषुप्ति में जीव की अविद्या रहती है और मुक्ति में नहीं रहती, इसलिए सुषुप्ति से जीव का व्युत्थान होता है।

हृदय के अन्दर जो प्रकाशमान् परमात्मा है, जीव उसमें सोता है-**य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिञ्छेते।**(बृ.उ.2.1.17) यहाँ परमात्मा में शयन

का अर्थ है-परमात्मा में एकरूप होना। एकरूप होने का अर्थ है-देवत्वमनुष्यत्व आदि भेदक आकारों और देवमनुष्यादि भेदक नामों का स्फुरण न होना। आत्मा ज्ञानरूप है, वह न तो देवता है और न ही मनुष्यादि। देवत्व, मनुष्यत्व आदि जो भेदक आकार हैं और देवमनुष्यादि जो भेदक नाम हैं, वे सभी शरीर के हैं, आत्मा के नहीं। जाग्रत और स्वप्न में देवत्व, मनुष्यत्व आदि भेदक आकारों और भेदक नामों की प्रतीति होती रहती है क्योंकि भेदक आकारों और नामों के प्रकाशक धर्मभूतज्ञान का उस समय प्रसार होता रहता है। सुषुप्ति में धर्मभूतज्ञान का प्रसार न होने से भेदक आकारों और भेदक नामों का ज्ञान नहीं होता। अभिमान की जनक ज्ञान का प्रसाररूप कार्यावस्था जाग्रत और स्वप्न में रहती है। इस अवस्था की निवृत्ति होने पर ज्ञान का संकोचरूप कारणावस्था वाली सुषुप्ति में जीव का स्वान्तर्यामी ब्रह्म में रहना ही शयन करना है। जैसे जल में मिलाया गया जल एक हो जाता है, वैसे ही जल के समान स्वच्छ स्वभाव वाले परमात्मा में लीन हुआ यह द्रष्टा जीव सर्वत्र परमात्मा के द्वारा किये गये आलिंगन से एक होता हुआ अद्वैत अर्थात् देवत्वादिरूप भेदक आकारों से रहित होता है- **सलिल एको द्रष्टोऽद्वैतो भवति**(बृ.उ.4.3.22)। यहाँ भेदक आकारों से रहित होने का अर्थ है-भेदक आकारों में अभिमान से रहित होना। जाग्रत और स्वप्न में अभिमान की जनक इन्द्रियों(करण) का विभागरूप सामग्री रहती है। सुषुप्ति में जीव अभिमान के जनक इन्द्रियों का विभागरूप सामग्री से रहित होता है। करण के विभागरूप सामग्री से रहित होना ही भेदक आकार में अभिमान से रहित होना है और ऐसा होने पर कौषीतकीश्रुति आत्मा का परमात्मा में एकधाभाव कहती है। जब सोया हुआ जीव किसी स्वप्न को नहीं देखता, तब वह प्राणशरीरक परमात्मा में एक होकर स्थित होता है-**यदा सुप्तः स्वप्नं न कथंचन पश्यति, अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति**(कौ.उ.4.39)। जाग्रत और स्वप्नावस्था में देहात्मबुद्धि होती है, इससे रागद्वेषादिरूप कलुष उत्पन्न होते हैं। सुषुप्ति में देहात्मबुद्धि नहीं होती अतः रागद्वेषादिरूप कलुष भी उत्पन्न नहीं होते, तब जीव जाग्रत और स्वप्न में जन्य देहात्मबुद्धि के कारण जो रागद्वेषादिरूप कलुष होते हैं, उनसे रहित होकर परमात्मा में स्थित होता है। सुषुप्तिकाल में यही जीव का परमात्मा में एकधा भाव(एक होकर स्थित रहना) है।

सुषुप्तिकाल में परमात्मा में लीन हुए जीव का पिता पिता नहीं होता, माता माता नहीं होती, लोक लोक नहीं होते, देव देव नहीं होते, वेद वेद नहीं होते, चोर चोर नहीं होता, भ्रूणहत्यारा भ्रूणहत्यारा नहीं होता, चाण्डाल चाण्डाल नहीं होता, पुल्कस(नीच) पुल्कस नहीं होता, संन्यासी संन्यासी नहीं होता, वानप्रस्थी वानप्रस्थी नहीं होता क्योंकि वह देह के साथ सम्बन्ध के जनक पुण्य-पाप से रहित होता है-**अत्र पिताऽपिता भवति, माताऽमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, वेदा अवेदाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति, भ्रूणहाऽभ्रूणहा, चाण्डालोऽचाण्डालः, पौल्कसोऽपौल्कसः, श्रमणोऽश्रमणः, तापसोऽतापसः, अनन्वागतं पुण्येन अनन्वागतं पापेन।।** (बृ.उ.4.3.22) सुषुप्तिकाल में शरीर से जीव के सम्बन्ध का जनक कर्म नहीं रहता इसलिए तब अशरीरी (शरीर में अभिमान से रहित) आत्मा रहती है। उस समय जीवात्मा का कोई उत्पादक नहीं होता इसलिए उसके माता-पिता का अभाव कहा गया है। इस समय आत्मा का परमात्मा ही आश्रय है, लोक आश्रय नहीं हैं, इसलिए लोक को अलोक कहा गया है। वेदों के द्वारा सुषुप्त व्यक्ति अनुशासनीय नहीं है इसलिए अनुशासनकर्ता वेद को अवेद कहा गया है। सुषुप्तिकाल में विद्यमान परिशुद्ध आत्मस्वरूप में चोरी आदि का कर्तृत्व संभव न होने से चोर को अचोर तथा भ्रूणहा को अभ्रूणहा कहा है। चाण्डालत्व आदि देह के धर्म हैं, आत्मा के नहीं इसलिए सुषुप्तिकाल में चाण्डाल अचाण्डाल है इत्यादि कहा गया है।

चिन्ता, आलस्य और परिश्रम के कारण स्वकार्य से उपरत होने वाले मन की अवस्थाविशेष निद्रा(सुषुप्ति) है अथवा धर्मभूतज्ञान की अत्यन्त संकुचित अवस्था निद्रा है। ऊपर वेदान्तमतानुसार निद्रा का विस्तृत प्रतिपादन किया गया, अब प्रसंगानुसार निद्रा के विषय में अन्य मत भी प्रस्तुत किये जाते हैं-

योगमत

योगदर्शन के विद्वानों का कहना है कि ज्ञानाभाव को निद्रा स्वीकार करना उचित नहीं क्योंकि जागने पर 'मैं सुख से सोया', 'कुछ नहीं जाना' इस प्रकार स्मरण होता है, वह संस्कार के विना नहीं हो सकता और संस्कार अनुभव के विना नहीं हो सकता। जाग्रत के स्मरण के बल पर

सुषुप्ति एक अनुभवात्मक वृत्ति सिद्ध होती है, जिससे जन्य संस्कार से उक्त स्मरण होता है। जाग्रत और स्वप्नकालिक वृत्तियों के अभाव के कारण को विषय करने वाली चित्त की वृत्ति निद्रा है- **अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा।** (यो.सू.1.10), जिस आवरण के होने पर जाग्रत और स्वप्न की वृत्तियों का अभाव होता है, वह आवरणात्मक तमोगुण या अज्ञान उन वृत्तियों के अभाव का कारण होता है और उसके अनुभव को निद्रा कहा जाता है। जाग्रत और स्वप्न की अपेक्षा निद्रा तामसवृत्ति है, यह तीन प्रकार की होती है-

1.सात्त्विकी निद्रा

जिस निद्रा में सत्त्वगुण के लेशसहित तमोगुण रहता है, उस निद्रा से उठने पर मनुष्य 'मैं सुख से सोया, मेरा मन प्रसन्न है और मेरी बुद्धि स्वच्छ है' ऐसी स्मृति करता है, ऐसी स्मृति की हेतु वृत्तिरूप निद्रा सात्त्विकी निद्रा कही जाती है।

2.राजसी निद्रा

जिस निद्रा में रजोगुण के लेशसहित तमोगुण रहता है, उससे उठने पर मनुष्य 'मैं दु:खसे सोया, मेरा मन अस्थिर और घूमता सा है' इस प्रकार स्मृति करता है, ऐसी स्मृति की कारण निद्रा राजसी निद्रा कही जाती है।

3.तामसी निद्रा

जिस निद्रा में केवल तमोगुण की प्रबलता रहती है, उससे उठने पर 'मैं बेसुध सोया, मेरे अंग भारी हैं और चित्त व्याकुल हो रहा है,' इस प्रकार स्मृति होती है, ऐसी स्मृति की जनक निद्रा तामसी निद्रा कही जाती है।

सांख्यमत

सांख्यप्रवचनभाष्य(1.148) के अनुसार अर्धलय और समग्रलय के भेद से सुषुप्ति दो प्रकार की होती है-

1.अर्धलयरूप सुषुप्ति

जब बुद्धि की विषयाकार वृत्ति नहीं होती किन्तु सुखाकार, दु:खाकार अथवा मोहाकार वृत्ति होती है, तब अर्धलयरूप सुषुप्ति होती है। सुखाकार

बुद्धिवृत्तिरूप सात्त्विकी सुपुप्ति होने पर 'मैं सुख से सोया', 'मेरा मन प्रसन्न है'। इस प्रकार स्मृति होती है, दु:खाकार बुद्धिवृत्तिरूप राजसी सुषुप्ति होने पर 'मैं दु:ख से सोया', 'मेरा मन चंचल है' इस प्रकार स्मृति होती है तथा मोहाकार बुद्धिवृत्तिरूप तामस सुषुप्ति होने पर 'मैं बेसुध सोया', 'मेरा मन व्याकुल है', इस प्रकार स्मृति होती है।

2.समग्रलयरूप सुषुप्ति

यह समस्त वृत्तियों की अभावरूपा होती है।

समीक्षा

ऊपर सांख्यमत में कही दूसरी सुषुप्ति वेदान्तसम्मत है। योगदर्शन की सुषुप्ति के समान ही सांख्यदर्शन की प्रथम सुषुप्ति है, इसमें सुषुप्ति को त्रिविध माना गया है। सांख्य-योग शास्त्र का उपरि लिखित यह कथन उचित नहीं क्योंकि वे जिस सुख-दु:ख-मोहाकार वृत्ति को सुषुप्ति कहते हैं, वह सुषुप्ति नहीं है, वह तो सुषुप्ति की पूर्वावस्था है। दार्शनिक प्रगाढ़ सुषुप्ति को ही सुषुप्ति कहते हैं। सकलवृत्तियों के अभाव की दशा ही सुषुप्ति है। सुषुप्ति में स्वरूपभूत प्रकाश से अतिरिक्त कोई वृत्ति नहीं रहती। साधन मार्ग में निद्रा के निरोध के लिए उसे उपचार से वृत्ति कहने पर वेदान्तसिद्धान्त से कोई विरोध नहीं है। वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार सभी वृत्तियों का अभावरूप निद्रा है। वह वृत्तिरूप नहीं हो सकती किन्तु समाधि पाने वाले साधक को अन्य वृत्तियो के समान निद्रा का भी निरोध करना चाहिए, इसी अभिप्राय से महर्षि पतंजलि ने **प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः** (यो.सू.1.6) इस प्रकार निद्रा को भी वृत्ति कहा है।

अब वेदान्तमतानुसार जाग्रतादि तीनों अवस्थाओं में जीवात्मा के स्थानों का प्रतिपादन किया जाता है-

जाग्रत आदि अवस्थाओं में जीव के स्थान

मनुष्य का हृदय कमल के आकार का होता है। कमलपुष्प में चारों ओर दल(पंखुड़ियाँ) होते हैं। मध्य में केसर होते हैं। केसर के नीचे कर्णिकाएं(बीज) होती हैं। हृदय के अन्दर घनीभूत नाड़ियों का समूह है,

जो कि लाल माँसपिण्ड जैसा प्रतीत होता है, यह कमल की कर्णिका के स्थान पर है, इसे पुरीतत् कहते हैं, इसका बृहदारण्यक श्रुति **य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डः**।(बृ.उ.4.2.3) इस प्रकार वर्णन करती है। हृदय से सम्बन्ध रखने वाली हिता नाम की नाड़ियाँ हृदय से पुरीतत् की ओर जाती हैं-**हिता नाम हृदयस्य नाड्यो हृदयात् पुरीततम् अभिप्रतिष्ठन्ति**।(कौ.उ.4.38), पुरीततसम्बन्धी हिता नामक नाड़ियाँ हृदय के अन्दर प्रतिष्ठित होती हैं-**एवमस्यैता हिता नाम नाड्यो अन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्ति**।(बृ.उ.4. 2.3)। ये नाड़ियाँ हृदय से बाहर भी विद्यमान रहती हैं। जीव जाग्रतदशा में हृदय में केसरायमाण नाड़ी से ऊपर दल भाग में रहता है। हृदय के दश छिद्र होते हैं, जिनमें इन्द्रियाँ स्थित होती हैं-**हृदयस्य दश छिद्राणि भवन्ति, येषु प्राणाः प्रतिष्ठिताः**(सु.उ.4)। हृदय की प्रधान दश नाड़ियाँ होती हैं-**अथेमा दश नाड्यो भवन्ति**।(सु.उ.4) इन नाड़ियों से सम्बद्ध इन्द्रियाँ गोलकपर्यन्त विद्यमान रहती हैं। जीव का धर्मभूतज्ञानद्वारा मन से सम्बन्ध होता है, मन का नेत्रादि इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है। इस प्रकार सभी इन्द्रियाँ अपने गोलकों में रहकर कार्य करती हैं। जाग्रत दशा में हृदयस्थ केसरायमाण नाड़ी से ऊपर दल भाग में स्थित जीव का नेत्र से सम्बन्ध होने के कारण **नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात्**। (ब्र.उ.)यह श्रुति उसका नेत्र स्थान कहती है। जीव स्वप्नावस्था में केसरस्थानी हिता नाड़ियों में जाकर रहता है-**तासु तदा भवति**।(कौ.उ.4.38) यह नाडी कण्ठ की समीपवर्ती नाडी है इसलिए स्वप्नावस्था में इसमें स्थित जीव का **कण्ठस्थे स्वप्नं विनिर्दिशेत्**(ब्र.उ.) यह श्रुति कण्ठ स्थान कहती है। जीव स्वप्नावस्था में (कण्ठ की समीपवर्ती नाड़ी में स्थित) मन में रहता है-**स्वप्नदशायाम् अन्तःकरणम्**(ऐ.उ.रं.भा.3.12)। इस समय जीव हिता नाड़ी में ही रहता है। स्वप्न में सक्रिय रहने वाले मन इन्द्रिय का अधिष्ठाता जीव होने से उसकी मन में भी स्थिति कही जाती है। जीव के हिता नाडी में आने पर मन भी इसी में आ जाता है, यहाँ प्रवेश करने पर जीव का मन से अतिरिक्त इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं रहता। जीवात्मा हिता नाड़ियों से पुरीतत् में आकर सुषुप्ति को प्राप्त होता है-**ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते**(बृ. उ.2.1.19)यह हृदय में ही स्थित है अतः निद्रा दशा में जीवात्मा का स्थान पुरीतत् या हृदय कहा जाता है।

बालक हो या वृद्ध, राजा हो या भिक्षुक, विद्वान हो या मूर्ख, इन सबकी सुषुप्ति दशा एक समान होती है। सुषुप्ति में जिसने महाराजत्व को छोड़ा था, वह फिर महाराज बन जाता है। जिसने दरिद्रता को छोड़ा था, वह पुनः दरिद्र बन जाता है। सुषुप्तिकाल में सत् परमात्मा में स्थित हुए जीव सुषुप्ति से पूर्व जाग्रत अवस्था में बाघ, शेर, भेड़िया, सुअर, कीट, पतंग, दंश अथवा मच्छर आदि जिस जिस शरीर में अभिमान(देहात्मबुद्धि) करके स्थित होते हैं, वे सुषुप्ति के पश्चात् 'मैं बाघ हूँ' इत्यादि रीति से उस उस शरीर में अभिमान करके स्थित हो जाते हैं-**त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा दंशो वा मशको वा यद् यद् भवन्ति तदाभवन्ति।**(छां.उ.6.10.2) इस प्रकार पूर्ववासना से युक्त होकर ही जागते हैं, वह नष्ट नहीं होती। जीव जाग्रतस्थान से स्वप्नस्थान में जाता है, वहाँ से सुषुप्तिस्थान में जाता है, फिर सुषुप्तिस्थान से स्वप्नस्थान होते हुए जाग्रतस्थान में आ जाता है। इस प्रकार जीव जाग्रतादि तीन अवस्थाओं में तीन स्थानों में संचरण करता रहता है।

एकीभूत

एकीभूत का अर्थ होता है-एकता को प्राप्त। विश्व और तैजस के साथ प्राज्ञ एकता को प्राप्त होता है। वे तीनों एक ही परमात्मा के रूप होने पर भी कार्यभेद से उनमें भेद होता है अर्थात् विश्व, तैजस और प्राज्ञ क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं के निर्वाहक होने से उनके तीनों(विश्वादि)रूपों में भेद होता है, तथापि वे सभी सामान्यतः ज्ञानानन्दस्वरूप हैं इसलिए विश्व और तैजस के साथ प्राज्ञ की एकता होती है-**एकीभूतः वैश्वानरतैजसाभ्यां सामान्येन ज्ञानानन्दादिरूपेणैकीभावं प्राप्तः।**(कू.भा.), यहाँ पर आदि पद से सत्यत्व, ज्ञानत्व और अनन्तत्व आदि को जानना चाहिए अथवा जाग्रत अवस्थापन्न जीव के अधिष्ठता विश्व होते हैं और उसके स्वप्नावस्था में जाने पर तैजस अधिष्ठाता होते हैं, इस प्रकार विश्व से तैजस का अभेद होता है तथा सुषुप्ति अवस्था में जाने पर प्राज्ञ अधिष्ठाता होते हैं, इस प्रकार विश्व और तैजस दोनों का प्राज्ञ से अभेद होता है।

प्रज्ञानघन

घनौ मेघे मूर्तिगुणे त्रिषु मूर्ते निरन्तरे(अ.को.3.3.111)इस कोशवचन के अनुसार 'घन'[1] शब्द का निरन्तर अर्थ होता है। ब्रह्मविद्या के विना निरन्तर संसरण करने वाला जीव प्रस्तुत व्याख्येय माण्डूक्यमन्त्र में घन शब्द से विवक्षित है। कर्म नाम वाली अविद्या तृतीयशक्ति मानी जाती है, जिससे आवृत ज्ञानगुण वाला जीवात्मा कर्मानुसार देव, मनुष्यादि सभी शरीरों में रहकर सतत होने वाले सभी प्रकार के सांसारिक तापों को सदा भोगता रहता है-**अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते। यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता नृपसर्वगा। संसारतापानखिलानवाप्नोत्यतिसंततान।**(वि.पु.6.7.61-62), इस प्रकार प्रतिपादित कर्मात्मिका अविद्या से आवृत संसारी जीव घन कहा जाता है-**कर्मवेष्टनावृतो जीवो घन इत्युच्यते।**(कू.भा.)। सुषुप्तिकाल में आत्मस्वरूप को स्वयं जानता है और आत्मा को भी उसके स्वरूप का बोध कराता है, इसलिए परमात्मा को प्रज्ञानघन कहा जाता है-**सषुप्तिवेलायां घनं तज्जीवस्वरूपं जानाति, प्रज्ञापयति च जीवस्येति प्रज्ञानघनः।**(कू.भा.), अब इसे ही विश्लेषण करके कहते हैं कि जिसके द्वारा जीवात्मस्वरूप को जाना जाता है, वह परमात्मा प्रज्ञानघन कहलाता है-**प्रज्ञानः**[2] **प्रज्ञातः घनः जीवो येन सः प्रज्ञानघनः** और जिसके द्वारा जीवात्मस्वरूप का(जीव को)ज्ञान कराया जाता है, वह परमात्मा प्रज्ञानघन कहलाता है-**प्रज्ञानः**[3] **प्रज्ञापितः घनः जीवो येन सः प्रज्ञानघनः।** परमात्मा सभी कार्यों के प्रति कारण होते हैं। सुषुप्ति काल में जीवात्मा को स्वात्मस्वरूप का ज्ञान होता है, उसे कराने वाले भगवान् प्राज्ञ 'प्रज्ञानघन' कहे जाते हैं। वे सर्वज्ञ होने से सुषुप्तिकालिक जीवात्मस्वरूप को भी जानते हैं, इसलिए भी 'प्रज्ञानघन' कहे जाते है।

---

1. **मूर्तौ घनः**(अ.सू.3.3.77) इति सूत्रेण हन् धातोः अप् प्रत्ययः घनश्चादेशः। घनः संसारी जीवः।
2. प्रपूर्वाद् 'ज्ञा अवबोधने' इति धातोः **कृत्यल्युटो बहुलम्**(अ.सू.3.3.113) इति सूत्रेण बहुलग्रहणात् कर्मणि ल्युटि अनादेशे प्रज्ञानः।
3. प्रपूर्वादन्तर्णीतण्यर्थात् 'ज्ञा अवबोधने' इति धातोः **कृत्यल्युटो बहुलम्** (अ.सू.3.3.113) इति सूत्रेण बहुलग्रहणात् कर्मणि ल्युटि अनादेशे प्रज्ञानः।

आनन्दमय[1]

ब्रह्म आनन्दस्वरूप है और आनन्द गुण वाला भी। **विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म**(बृ.उ.3.9.28) यह श्रुति ब्रह्म को आनन्दस्वरूप कहती है तथा **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति**।(तै.उ.2.9.1)और **स एको ब्रह्मण: आनन्द:**।(तै.उ.2.8.4)इत्यादि श्रुतियाँ उसका आनन्द गुण कहती हैं। आनन्द की प्रचुरता वाला अर्थात् पूर्ण आनन्द वाला परमात्मा आनन्दमय कहलाता है-**आनन्दमय: आनन्दप्रचुर: पूर्णानन्द इति यावत्**। (कू.भा.)।

शंका-आनन्दमय शब्द का 'आनन्द की प्रचुरता वाला' अर्थ करने पर उसमें दु:ख का मिश्रण भी अनिवार्यत: स्वीकार करना होगा क्योंकि आनन्द की प्रचुरता दु:ख की अल्पता को भी द्योतित करती है।

समाधान-ऐसी शंका करना उचित नहीं क्योंकि जैसे प्रचुरप्रकाश वाला सूर्य है-प्रकाशमयो रवि:। यहाँ चन्द्रादि के प्रकाश की अल्पता की अपेक्षा सूर्य के प्रकाश की प्रचुरता कही जाती है, सूर्य के अन्धकार की अल्पता की अपेक्षा प्रकाश की प्रचुरता नहीं कही जाती, वैसे ही आत्मा के आनन्द की अल्पता की अपेक्षा परमात्मा के आनन्द की प्रचुरता कही जाती है, परमात्मा के दु:ख की अल्पता की अपेक्षा उसके आनन्द की प्रचुरता नहीं कही जाती। जैसे सूर्य में प्रकाश की अल्पता प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होने से वह 'प्रकाशमयो रवि:' इस वाक्य से नहीं कही जाती, वैसे ही परमात्मा में दु:ख की अल्पता शास्त्र प्रमाण से बाधित होने से 'आनन्दमय:' शब्द से नहीं कही जाती। दु:ख का कारण पाप होता है और 'परमात्मा पाप से रहित है'-**एष आत्माऽपहतपाप्मा......**(छां.उ.) यह श्रुति उसे पापरहित कहती है, इस प्रकार शास्त्रप्रमाण से उसमें दुखों का अभाव ही सिद्ध होता है। वस्तुत: मयट् प्रत्यय प्रकृति के अर्थ की प्रचुरतामात्र का प्रतिपादन करता है, अन्यत्र उसकी या उससे भिन्न किसी की अल्पता का प्रतिपादन नहीं करता, वह तो प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर से ज्ञेय है। परमात्मा में दु:ख की

---

1. आनन्दप्रचुर: परमात्मा। तत्प्रकृतवचने मयट् (अ.सू.5.4.21) इत्यनेन सूत्रेण प्राचुर्यार्थे मयट्प्रत्यय:।

अल्पता तो शास्त्रप्रमाण से बाधित ही है अतः मनुष्य के आनन्द की अल्पता की अपेक्षा परमात्मा के आनन्दमयत्व का कथन होता है, इसी अभिप्राय से कहा है कि मन के सहित वाणी ब्रह्मानन्द की इयत्ता को प्राप्त किये विना जहाँ से लौट आती है-**यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह।**(तै.उ.2.4.1, 2.9.1), वह आनन्द का आश्रय परमात्मा ही यहाँ आनन्दमय शब्द से कहा गया है। इसका शेष विवरण 'चेतोमुखः' की व्याख्या में देखना चाहिए।

आनन्दभुक्

जाग्रत् में स्थूल विषयों का भोग(अनुभव)होता है और स्वप्न में सूक्ष्म का, सुषुप्ति में वह होता ही नहीं, तब विषयभोग के विना ही आत्मा को आनन्द का भोग कराता है और स्वयं भी आनन्द का भोग करता है इसलिए उस अवस्था का निर्वाहक परमात्मा आनन्दभुक् कहलाता है-**विषयभोगान् विनैव आनन्दं भुङ्क्ते भोजयति चेति आनन्दभुक्।**(कू. भा.), यहाँ यह ध्यातव्य है कि जैसे भगवान् विश्व स्थूलभुक् हैं और भगवान् तैजस प्रविविक्तभुक् हैं, वैसे ही सुषुप्ति में समर्पित आनन्दरूप आत्मा के भोक्ता भगवान् प्राज्ञ आनन्दभुक् हैं।

सुषुप्ति में आत्मा को उसके स्वरूपभूत आनन्द का भोग कराने वाला परमात्मा आनन्दभुक् कहलाता है। निद्रा से जागने पर व्यक्ति 'मैं आनन्द से सोया' इस प्रकार आनन्द का स्मरण करता है, यह स्मरण अनुभव के विना संभव नहीं अतः उक्त स्मरण के बल पर यह स्वीकार किया जाता है कि सुषुप्ति में आनन्द का अनुभव हुआ है, यह आनन्द विषयानन्द नहीं है क्योंकि उस समय विषय के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं होता और धर्मभूत ज्ञान अत्यन्त संकुचित हो जाता है तथा इन्द्रियाँ अपने व्यापारों से उपरत हो जाती हैं। धर्मभूतज्ञान इन्द्रियद्वारा ही विषय से सम्बद्ध होकर विषय का प्रकाश करता है किन्तु सुषुप्ति में वह संभव नहीं, तब मन के भी उपरत हो जाने से धर्मभूतज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव नहीं होता अतः उस वेला में जिस आनन्द का अनुभव हुआ है, वह आत्मा का स्वरूपभूत आनन्द ही है। सुषुप्ति में गये विना स्मरण नहीं होता। जीव को सुषुप्ति में ले जाकर उसके स्वरूपभूत आनन्द का अनुभव

कराने वाला परमात्मा आनन्दभुक् कहलाता है और स्वयं भी उसका अनुभव करता है इसलिए भी आनन्दभुक् कहलाता है।

आनन्दरूप आत्मा

'मैं सुख से सोया' इस परामर्श में अहमर्थ आत्मा, उसकी सुखरूपता, सुषुप्ति और पूर्वकाल ये चार अर्थ भासित होते हैं। यह पूर्व में कहा जा चुका है कि बाह्येन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय से होने वाले सभी ज्ञानों का अभाव ही सुषुप्ति है। सुषुप्ति का सुषुप्तिकाल में अनुभव नहीं होता। यदि सुषुप्तिकाल में सुषुप्ति का अनुभव होता तो सुषुप्ति ही नहीं होगी क्योंकि उस समय इस अनुभवात्मक ज्ञान के रहने से इन्द्रियजन्य समस्त ज्ञानों की निवृत्ति नहीं होगी। जिस प्रकार 'मैं धीरे-धीरे गया-अहं मन्दमगच्छम्', 'मैंने मधुर गान किया-अहं मधुरमगायम्' यहाँ पर जाना और गाना क्रिया के विशेषण मन्दता और मधुरता क्रिया के समानकालिक ज्ञात होते हैं, उसी प्रकार 'मैं सुख से सोया' इस स्मरण में सुषुप्ति क्रिया का विशेषण सुख उसके समानकालिक ज्ञात होता है। इस प्रकार सुषुप्तिकालीन आत्मरूप सुख का अनुभव सिद्ध होता है। सुषुप्ति और पूर्वकाल दोनों अनुमेय हैं। सुषुप्ति में आत्मा का ही अनुभव होता है। उससे भिन्न सुषुप्ति एवं पूर्वकाल का अनुभव नहीं होता। सोने से पहले दिन का अनुभव किया था, जागने पर नूतन दिन प्रतीत होता है और पूर्व दिन का स्मरण होता है। इन दो दिनों के बीच में एक रात्रि अवश्य बीती है, जिसमें निद्रा आयी थी। इस प्रकार पूर्वकाल(निद्राकाल) रात्रि का अनुमान होता है। निद्राकाल में आत्मा को स्वस्वरूप से अतिरिक्त कुछ भी ज्ञान नहीं था। यदि उस समय ज्ञान होता तो जागने पर अवश्य स्मरण होता। स्मरण के योग्य ज्ञान का जागने पर स्मरण न होने से ज्ञानाभाव की अनुमिति होती है। यह ज्ञानाभाव ही निद्रा है। जिस प्रकार क्या प्रातःकाल आपने मैदान में हाथी देखा था? इस प्रश्न के पश्चात् उत्तरदाता स्मरण होने योग्य अर्थ हाथी का स्मरण न होनेरूप हेतु से हाथी के अभाव की अनुमिति करता है, पूर्वानुभूत मैदान तो संस्कार की महिमा से भासता है। वैसे ही यहाँ पूर्वकाल तथा ज्ञानाभावरूप सुषुप्ति की अनुमिति होती है। सुषुप्तिकाल में अनुभूत आत्मा तथा उसकी सुखरूपता संस्कार की महिमा से भासित होती है। सुषुप्तिकाल में आत्मा तथा उसकी सुखरूपता का अनुभव होता है। जागने पर सुषुप्ति तथा

सुषुप्तिकाल की अनुमिति होती है। इसके अव्यवहित पश्चात् 'मैं सुख से सोया' यह प्रतिसन्धान होता है। यह अतिशीघ्रता के कारण सुषुप्ति से अव्यवहित प्रतीत होता है। ज्ञान का मुख्य विशेष्य सुषुप्तिकाल में अनुभूत आनन्दरूप आत्मा ही है। यदि आत्मा आनन्दरूप नहीं होती, तो उसका अनुभव न होने से 'मैं आनन्द से सोया' इस प्रकार आनन्द का स्मरण भी नहीं होता, किन्तु स्मरण होता है, इससे सिद्ध होता है कि आत्मा आनन्दस्वरूप है।

शंका

जाग्रतकालीन स्मरण के बल पर सुषुप्ति में आत्मा की आनन्दरूपता का अनुभव स्वीकार करना उचित नहीं क्योंकि लोक में अनुभव और स्मरण का आश्रय एक ही देखा जाता है। सुषुप्ति में अनुभव करने वाला स्वरूपभूत आत्मा है तथा जागने पर स्मरण करने वाला ज्ञाता(ज्ञानविशिष्ट आत्मा) है। यहाँ अनुभव और स्मरण के भिन्न भिन्न आश्रय होते हैं। इसलिए स्मरण के बल पर आनन्दरूपता की अनुभूति स्वीकार करना उचित नहीं है। संस्कार ही स्मृति का जनक होता है और स्मृति के हेतु संस्कार की उत्पत्ति अनित्यज्ञान से होती है। सुषुप्ति में विद्यमान स्वरूपभूत ज्ञान नित्य है, अतः इससे संस्कारों की उत्पत्ति नहीं होगी क्योंकि अनुभव की सूक्ष्मावस्था ही संस्कार कहलाती है। निर्विकार एकरूप आत्मा की सूक्ष्मावस्था नहीं हो सकती है। सुषुप्तिकालीन अनुभव वृत्तिज्ञान नहीं है,. वह तो आत्मस्वरूप ही है। संस्कार की उत्पत्ति न होने से आनन्द की स्मृति भी नहीं होगी, स्मृति के न होने से आत्मा को आनन्दरूप स्वीकार नहीं कर सकते। नित्यज्ञान को भी संस्कार का उत्पादक मानने पर मोक्ष में भी संस्कार मानने पड़ेंगे जो कि अनिष्ट है। संस्कार धर्मभूतज्ञान का एक विकार है, इसलिए वह धर्मभूतज्ञान की स्मृतिरूप अवस्था का कारण होता है। घटादि पदार्थों के अनुभव धर्मभूतज्ञान की अवस्थाएं हैं। अनुभवजन्य संस्कार तथा स्मृति भी ज्ञान की अवस्थाएं होती हैं। स्वरूपभूतज्ञान के अनुभव करने पर धर्मभूतज्ञान में संस्कार संभव न होने से स्मृति भी संभव नहीं होगी। इस प्रकार असंगति होने के कारण उक्त स्मृति के बल पर आत्मा को आनन्दरूप स्वीकार नहीं कर सकते हैं।

समाधान

अनुभव करने वाला ही स्मरण करता है, अनुभव न करने वाला स्मरण नहीं करता इसलिए माना जाता है कि अनुभवकर्ता को ही स्मरण होता है। जागने पर सुख का स्मरण होता है। यह निद्राकालीन अनुभव के विना संभव नहीं, इसलिए माना जाता है कि स्मर्यमाण सुख निद्रा में अनुभूत आत्मा का स्वरूपभूत सुख है। रही बात अनुभव और स्मरण के एक कर्ता होने की तथा अनुभव, संस्कार और स्मरण के एक आधार होने की। यह बात तो इन्द्रियजन्य अनुभव के विषय में मानी जाती है। इन्द्रियनिरपेक्ष स्वरूपभूत अनुभवस्थल में यह संभव नहीं। लोकसिद्ध इन्द्रियजन्य अनुभव और स्वरूपभूत अनुभव यदि समान होते तो शंका को अवकाश मिलता किन्तु वे दोनों समान नहीं हैं अतः शंका करना व्यर्थ है। मुक्तात्मा को सभी पदार्थ सदा प्रत्यक्ष रहते हैं। उसमें संस्कार का कार्य कुछ भी नहीं है अतः मोक्ष में संस्कार की कल्पना करना व्यर्थ है। 'तुष्यतु न्याय' से अनित्य ज्ञान को ही स्मृति के हेतु संस्कार का उत्पादक मानने पर समाधान दिया जाता है–जाग्रतादि अवस्था में भोग देने वाले कर्मों की उपरतिरूप आगन्तुक धर्म से विशिष्ट जो(सुषुप्तिकालीन) आत्मस्वरूप ज्ञान है, वह विशिष्टरूप में सदा विद्यमान न रहने से अनित्य है, इसलिए संस्कार का उत्पादक हो सकता है।

यद्यपि निर्विकार आत्मस्वरूप में संस्कार संभव नहीं हैं, फिर भी स्मृति होने के कारण वेदान्तमत में माना जाता है कि आत्मा के स्वरूपभूतज्ञान से धर्मभूतज्ञान में संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार आत्मा की आनन्दरूपता की स्मृति संभव होती है और इस स्मृति से वह आनन्दरूप स्वीकार की जाती है।

नैयायिक

'मैं आनन्द (सुख) से सोया' इस प्रकार जाग्रतकालीन स्मरण के बल पर आत्मा को सुखरूप स्वीकार करना उचित नहीं क्योंकि 'मैं दुःख से सोया' ऐसा भी जाग्रतकाल में स्मरण होता है। यदि एक मनुष्य के स्मरण के बल से आत्मा को सुखरूप स्वीकार किया जाए तो दूसरे मनुष्य के स्मरण के बल से आत्मा को दुःखरूप क्यों न स्वीकार किया जाय?

वेदान्ती

यह कथन युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि सुषुप्ति में दुःख का अनुभव नहीं होता। 'मैं दुःख से सोया' इस स्मरण का जनक सुषुप्तिकालिक अनुभव नहीं है बल्कि सुषुप्ति से अव्यवहित पूर्वकाल में रोग, चिन्ता, खटमल, मच्छर तथा बिस्तर आदि की प्रतिकूलता से जन्य दुःख का अनुभव होता है। निद्रा के साथ उसे मिलाकर 'मैं दुःख से सोया' यह कहा जाता है। इस स्मरण का जनक सुषुप्ति से पूर्व में होने वाले दुःख हैं अतः उक्त स्मरण के बल पर आत्मा को दुःखरूप सिद्ध नहीं किया जा सकता है, वह तो आनन्दरूप ही है।

नैयायिक

जैसे 'मैं दुःख से सोया' इस स्मरण का जनक सुषुप्ति से अव्यवहित पूर्वकाल में होने वाला दुःख है, वैसे ही 'मैं सुख से सोया' इस स्मरण का जनक सुषुप्ति के अव्यवहित पूर्वकाल में होने वाला सुख है। सुषुप्ति के पूर्व अच्छा मौसम तथा बिस्तर आदि की अनुकूलता से सुख का अनुभव होता है। सुषुप्ति में कोई भी अनुभव नहीं होता अतः अनुभवजन्य स्मरण के बल पर आत्मा को आनन्दरूप नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः आत्मा न तो सुखरूप है और न ही दुःखरूप। सुषुप्ति में दुःखाभाव तो होता है पर सुख नहीं होता।

वेदान्ती

यह कथन उचित नहीं क्योंकि जब दीर्घकाल तक निद्रा के लिए, भोजन के लिए अथवा अन्य सुखदायक विषय के साथ सम्बन्ध के लिए अवसर नहीं मिलता, तब बाद में युगपद् सभी की प्राप्ति होने पर सभी लोग विषयसुख का त्याग करके भोजनसुख और भोजनसुख का त्याग करके निद्रासुख इस क्रम से ही सुख का चयन करते हैं। भोजन और विषय सब प्राप्त होने पर भी निद्रा न प्राप्त होने पर निद्रा की गोलियाँ निगलकर सो जाते हैं, इससे सिद्ध होता है कि विषयसुख की अपेक्षा प्राणधारण से जन्य सुख का अधिक महत्त्व है तथा प्राणधारण से जन्य सुख की अपेक्षा निद्रासुख का अधिक महत्त्व है। मनुष्य अपनी सुषुप्ति में बाधा पड़ने पर पहले से सुख देने वाली स्त्री, पुत्र, संपत्ति आदि का भी तिरस्कार करता है,

परमात्मा भी स्वरूपभूत ज्ञान से स्वस्वरूप का प्रकाश और उससे भिन्न सभी का धर्मभूत ज्ञान से प्रकाश करता है। परमात्मा की निद्रावस्था नहीं होती, संसारी जीव की होती है, उस अवस्था में उसकी मन सहित सभी इन्द्रियाँ अपने कार्य से उपरत रहती हैं अतः वह धर्मभूतज्ञान का प्रसार न होने से स्वरूपभूत ज्ञान से ही अपने आत्मरूप सुख का अनुभव करता है किन्तु परमात्मा के धर्मभूतज्ञान के प्रसार का कभी अवरोध नहीं होता, इसलिए वह सदा सर्वज्ञ रहता है। जीव के सुषुप्तिकाल में भी परमात्मा अपने धर्मभूत ज्ञान से उसके स्वरूप को भी प्रकाशित करता रहता है। चेतनाचेतन सभी पदार्थों के युगपद् प्रकाश का साधन धर्मभूत ज्ञान वाला होने से परमात्मा चेतोमुख है। यह पूर्व में कहा गया है कि यहाँ मुख शब्द सभी अङ्गों का उपलक्षण है, जैसे अन्तःप्रज्ञ और बहिःप्रज्ञ सप्ताङ्ग हैं, वैसा यह नहीं है अपितु उसका ज्ञान ही उसके सभी अङ्ग हैं। रङ्गरामानुजभाष्य के अनुसार तो विशुद्ध मन से ग्राह्य परमात्मा चेतोमुख कहलाता है-**चेतोमुखः विशुद्धचेतोग्राह्यः**।(रं.भा.) परमात्मा सुषुप्तिकाल में मन से ग्राह्य है, ऐसा श्रीरङ्गरामानुजममुनि का तात्पर्य नहीं है अपितु उपासना काल में विशुद्धमनोग्राह्य जो परमात्मा है, वही सुषुप्ति में विद्यमान है, ऐसा समझना चाहिए।

अभी प्राज्ञ को चेतोमुख कहा गया किन्तु भगवान् सदा आनन्दमय हैं और सबके प्रकाशक हैं इसलिए श्रीकूरनारायणमुनि में कहा है कि आनन्दमयत्व और चेतोमुखत्व ये दोनों विशेषण वैश्वानर और तैजस के तथा **नान्तःप्रज्ञम्....** (मां.उ.2.5)इस प्रकार वक्ष्यमाण तुरीयरूप के भी हैं, ऐसा जानना चाहिए-**एतद् आनन्दमयत्वचेतोमुखत्वरूपविशेषणद्वयं प्रागुक्तरूपद्वये नान्तःप्रज्ञम् इति वक्ष्यमाणचतुर्थरूपे च** ध्येयम्।(कू.भा.) अर्थात् परमात्मा के विश्वादि चारों रूप आनन्दमय और चेतोमुख हैं।

प्राज्ञ

प्रकर्षता से बोध नहीं कराता है, इसलिए सुषुप्ति अवस्था वाले जीव का अधिष्ठाता परमात्मा प्राज्ञ कहलाता है-**प्रकर्षेण न ज्ञापयतीति प्राज्ञः**[1]।(कू.

में 'ज्ञाता और ज्ञानरूप ब्रह्म' शीर्षक देखना चाहिए।

1. प्रपूर्वाद् नञुपपदाद् अन्तर्णीतण्यर्थात् ज्ञाधातोः **आतश्चोपसर्गे**(अ.सू.3.3.106) इति क प्रत्ययः (कू.भा.)।

भा.)(अर्थात्) सुषुप्त जीव को उसके स्वरूप से अतिरिक्त जाग्रत् या अथवा स्वप्न के किसी भी विषय का बोध नहीं कराता, इसलिये जीव की सुषुप्ति अवस्था का निर्वाहक परमात्मा प्राज्ञ नाम वाला है-**जीवस्वरूपातिरिक्तं बाह्यं स्वाप्नं वा किमपि न ज्ञापयतीति प्राज्ञनामक इत्यर्थः**।(कू.भा.) इसीलिए बृहदारण्यकश्रुति कहती है कि जीव सुषुप्ति में अपने से अतिरिक्त बाह्य या आभ्यन्तर किसी भी द्वितीय वस्तु को नहीं जानता-**यद् द्वैतं न पश्यति**।(बृ.उ.4.3.23)छान्दोग्यश्रुति तो इससे भी बढ़कर कहती है कि जिस प्रकार खेत में गड़ी सुवर्णनिधि को न जानने वाले मनुष्य खेत के ऊपर प्रतिदिन संचरण करने पर भी सुवर्णनिधि को नहीं जानते, इसी प्रकार सुषुप्तिकाल में सभी प्रजा प्रतिदिन ब्रह्मरूप लोक में जाने पर भी ब्रह्म को नहीं जानती क्योंकि ब्रह्मज्ञान के प्रतिबन्धक कर्मरूप अज्ञान से आच्छादित है-**तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुः, एवमेवेमाः सर्वाः प्रज्ञा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दति**, अनृतेन **हि प्रत्यूढाः**।(छां.उ.8.3.2)। प्रस्तुत माण्डूक्यश्रुति से वर्णित प्राज्ञ परमात्मा का तृतीय रूप है।

ऊपर तीन मन्त्रों के द्वारा ब्रह्म के तीन पादों का निरूपण किया गया और आगे पंचम मन्त्र से चतुर्थ पाद का निरूपण किया जायेगा, अब यहाँ मध्य में श्रुति ***'सोऽयमात्मा चतुष्पात्'*** *(मां.उ.1.2)इस प्रकार पूर्व में वर्णित चतुष्पाद ब्रह्म के ऐश्वर्य का वर्णन करती है-*

चतुर्थो मन्त्रः

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिस्सर्वस्य। प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।।4।।

अन्वय

एषः सर्वेश्वरः, एषः सर्वज्ञः, एषः अन्तर्यामी, एषः सर्वस्य योनिः। हि भूतानाम् प्रभवाप्ययौ।

अर्थ

एषः- यह ब्रह्म **सर्वेश्वरः**- सभी का शेषी है, **एषः**- यह **सर्वज्ञः**-

भा.)(अर्थात्) सुषुप्त जीव को उसके स्वरूप से अतिरिक्त जाग्रत् के अथवा स्वप्न के किसी भी विषय का बोध नहीं कराता, इसलिये जीव की सुषुप्ति अवस्था का निर्वाहक परमात्मा प्राज्ञ नाम वाला है-**जीवस्वरूपातिरिक्तं बाह्यं स्वाप्नं वा किमपि न ज्ञापयतीति प्राज्ञनामक इत्यर्थः।**(कू.भा.) इसीलिए बृहदारण्यकश्रुति कहती है कि जीव सुषुप्ति में अपने से अतिरिक्त बाह्य या आभ्यन्तर किसी भी द्वितीय वस्तु को नहीं जानता-**यद् द्वैतं न पश्यति।**(बृ.उ.4.3.23)छान्दोग्यश्रुति तो इससे भी बढ़कर कहती है कि जिस प्रकार खेत में गड़ी सुवर्णनिधि को न जानने वाले मनुष्य खेत के ऊपर प्रतिदिन संचरण करने पर भी सुवर्णनिधि को नहीं जानते, इसी प्रकार सुषुप्तिकाल में सभी प्रजा प्रतिदिन ब्रह्मरूप लोक में जाने पर भी ब्रह्म को नही जानती क्योंकि ब्रह्मज्ञान के प्रतिबन्धक कर्मरूप अज्ञान से आच्छादित है-**तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुः, एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दति, अनृतेन हि प्रत्यूढाः।**(छां.उ.8.3.2)। प्रस्तुत माण्डूक्यश्रुति से वर्णित प्राज्ञ परमात्मा का तृतीय रूप है।

ऊपर तीन मन्त्रों के द्वारा ब्रह्म के तीन पादों का निरूपण किया गया और आगे पंचम मन्त्र से चतुर्थ पाद का निरूपण किया जायेगा, अब यहाँ मध्य में श्रुति ***'सोऽयमात्मा चतुष्पात्'*** *(मां.उ.1.2)इस प्रकार पूर्व में वर्णित चतुष्पाद ब्रह्म के ऐश्वर्य का वर्णन करती है-*

चतुर्थो मन्त्रः

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिस्सर्वस्य। प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥4॥

अन्वय

एषः सर्वेश्वरः, एषः सर्वज्ञः, एषः अन्तर्यामी, एषः सर्वस्य योनिः। हि भूतानाम् प्रभवाप्ययौ।

अर्थ

एषः- यह ब्रह्म **सर्वेश्वरः**- सभी का शेषी है, **एषः**- यह **सर्वज्ञः**-

सवता है, **एषः**-यह **अन्तर्यामी**-अन्तर्यामी है, **एषः**-यह **सर्वस्य**- सभी का **योनिः**- आश्रय है। यह **हि**- प्रसिद्ध ब्रह्म ही **भूतानाम्**- सभी प्राणियों की **प्रभवाप्ययौ**- उत्पत्ति और लय का कारण है।

व्याख्या

सर्वेश्वर

ईश्वर शब्द शेषी अर्थ का बोधक है-**ईश्वरशब्दो हि शेषिवाचकः।** (श्रु.प्र.1.1.1)। जाग्रत् आदि अवस्थाओं वाली आत्मा का शेषी चतुष्पाद ब्रह्म सर्वेश्वर कहलाता है।

शेषी

भोक्ता अपनी इच्छा के अनुसार जिस पदार्थ का भोग(उपयोग) कर सके, उसे शेष कहते हैं-**यथेष्टविनियोगार्हः शेषः।** दूसरे के उपयोग में आना ही शेष का स्वरूप है, उसका अपना कोई प्रयोजन नहीं होता। भोक्ता अपनी इच्छा के अनुसार चन्दन का शिर में लेपन करे, पुष्प और वस्त्रादि को धारण करे, ताम्बूल का भक्षण करे। उपयोग में आने वाली इन वस्तुओं का कभी भी कोई स्वार्थ नहीं होता। इच्छानुसार उपयोग के योग्य-'यथेच्छविनियोगार्ह' होने से चन्दनादि शेष कहलाते हैं और इनका उपयोग करने वाला भोक्ता आत्मा शेषी कहलाता है। शरीर आत्मा के लिए है, उसका(शरीर का) कोई स्वार्थ नहीं। आत्मा इच्छानुसार शरीर से विहित कर्म करे अथवा निषिद्ध कर्म करे, इस प्रकार यथेच्छविनियोगार्ह होने से शरीर शेष है और यथेच्छविनियोग करने वाला आत्मा शेषी। जैसे-आत्मा के शेष चन्दनादि हैं और शरीर भी शेष है, वैसे ही परमात्मा का शेष आत्मा है, वे जैसा चाहें, इसका उपयोग कर सकते हैं। इस प्रकार यथेच्छ उपयोग के योग्य होने से आत्मा शेष है और उपयोग करने वाले परमात्मा शेषी हैं।

परमात्मा चेतनाचेतन सभी पदार्थों के स्वाभाविक शेषी हैं और आत्मा अपने शरीर आदि का स्वाभाविक शेषी नहीं है। बद्धावस्था वाली आत्मा का अपने शरीर आदि के प्रति शेषित्व कर्म उपाधि के कारण है और परमात्मा के प्रति शेषत्व स्वाभाविक है अतः आत्मा के रहते यह कभी

नष्ट नहीं हो सकता। आत्मा नित्य है इसलिए उसका भगवच्छेपत्व धर्म भी नित्य है। संसार में जीवात्मा माता-पिता आदि का शेष बन कर रहता है किन्तु माता-पिता आदि के प्रति उसका शेषत्व स्वाभाविक नहीं है, बल्कि कर्मकृत है क्योंकि पूर्वकृत पुण्यपापरूप कर्मों के कारण ही वह उनका शेष बनकर रहता है। आत्मा के शेष जो गृह, क्षेत्र, पुत्र और पत्नी आदि हैं, उनकी आत्मा से पृथक् स्थिति और पृथक् प्रतीति होती है, वे आत्मा से पृथक् स्थिति और पृथक् प्रतीति के योग्य हैं, उन गृहादि के समान परमात्मा से पृथक्स्थिति और पृथक्प्रतीति के योग्य आत्मा नहीं है किन्तु जैसे शरीर आत्मा से पृथक्स्थिति और पृथक्प्रतीति के अयोग्य है, वैसे ही आत्मा परमात्मा से पृथक्स्थिति और पृथक्प्रतीति के अयोग्य है। भगवान् सबका शेषी है-**पतिं विश्वस्य**।(तै.ना.उ.92) इत्यादि प्रमाणों से विश्वादि चार पादों वाले परमात्मा का शेषित्व सिद्ध होता है।

सर्वज्ञ

चतुष्पाद ब्रह्म अतीत, वर्तमान और अनागत समस्त स्थूल-सूक्ष्म पदार्थों को युगपत् स्वरूपतः और प्रकारतः जानता है, इसलिए सर्वज्ञ कहलाता है।

अन्तर्यामी

ब्रह्म चेतनाऽचेतन निखिल प्रपञ्च में प्रविष्ट होकर उसका नियमन करता है, इसलिए अन्तर्यामी कहलाता है।

सर्वयोनि

परमात्मा सबका आश्रय होने से सर्वयोनि कहा जाता है।

प्रभवाप्यय

यहाँ प्रभव का अर्थ है-उत्पत्ति का कारण और अप्यय का अर्थ है-लय का कारण। सब की उत्पत्ति और लय के कारण विश्वादि रूपों वाले भगवान् प्रभवाप्यय कहे जाते हैं। यह प्रभवाप्ययौ शब्द स्थितिकारण का भी उपलक्षण है। **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति**।(तै.उ.3.1.2)यह तैत्तिरीय श्रुति ब्रह्म को उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण कहती है।

प्रस्तुत मन्त्र में वर्णित सर्वेश्वरत्व, सर्वज्ञत्व, अन्तर्यामित्व, सर्वयोनित्व और प्रभवाप्ययत्व ब्रह्म के धर्म हैं। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय ये चारों ब्रह्म के ही रूप हैं इसलिए सर्वेश्वरत्वादि इन सभी के सामान्य धर्म हैं।

अत्रैते श्लोकाः भवन्ति-

पूर्वपठित **जागरितस्थान....**इत्यादि तीन माण्डूक्यमन्त्रों के विषय में ये कारिकाएं हैं-

माण्डूक्यकारिका:

बहि:प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्त:प्रज्ञस्तु तैजस:।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृत:॥1॥

अर्थ

जीव की जाग्रत् अवस्था का निर्वाहक वैश्वानर बहि:प्रज्ञ है। स्वप्नावस्था का निर्वाहक तैजस अन्त:प्रज्ञ है तथा सुषुप्ति अवस्था का निर्वाहक प्राज्ञ प्रज्ञानघन है, इस प्रकार पूर्वोक्त माण्डूक्यमन्त्रों के द्वारा एक ही व्यापक परमात्मा तीन अवस्थाओं का निर्वाहक होने से विश्वादि तीन रूपों वाला कहा जाता है। प्रस्तुत कारिका में आये बहि:प्रज्ञ आदि पदों की व्याख्या पूर्व(मां.उ.2.1, 2.2, 2.3) में की गयी है, वहीं से समझ लेना चाहिए।

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तश्च तैजस:।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थित:॥2॥

अर्थ

जीवात्मा के दक्षिण नेत्र के अग्रभाग में विश्व नामक परमात्मा रहता है और मन में तैजस नाम वाला रहता है तथा हृदयाकाश में प्राज्ञ रहता है, इस प्रकार जीव के शरीर में एक ही परमात्मा तीन प्रकार से स्थित रहता है। ब्रह्मोपनिषत् में **जागरिते नेत्रस्थं विद्यात्**।(ब्र.उ.) इस प्रकार विश्व की नेत्र में स्थिति बतायी गयी है। पुरुष के शरीर में दाहिने अंग की प्रधानता होती है इसलिए **इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुष:**।(बृ.उ.4.2.2)यह बृहदारण्यक श्रुति भी परमात्मा की दक्षिण चक्षु में स्थिति कहती है। चक्षु का अग्रभाग क्षत होने पर मनुष्य अन्धा हो जाता है, उसकी नेत्र

इन्द्रिय काम नही करतो अतः कारिका चक्षु के अग्रभाग में उसकी स्थिति कहती है। इसका विवरण पूर्व में 'जाग्रत आदि अवस्थाओं मे जीव के स्थान' के निरूपण में किया जा चुका है, वहीं देखना चाहिए।

विश्वो हि स्थूलभुङ् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
आनन्दभुक् तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत॥3॥

अर्थ

विश्व सदा स्थूलभुक् है, तैजस प्रविविक्तभुक् है और प्राज्ञ आनन्दभुक् है, इस प्रकार जाग्रत् आदि अवस्थाओं में तीन प्रकार के भोग जानने चाहिए। स्थूलभुक् आदि तीनों की पूर्व(मां.उ.2.1, 2.2, 2.3)में विस्तृत व्याख्या की गयी है।

स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम्।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत॥4॥

अर्थ

स्थूलविषय विश्व को तृप्त करता है, सूक्ष्म विषय तैजस को और आनन्द प्राज्ञ को तृप्त करता है, इस प्रकार विश्वादि की तृप्ति भी तीन प्रकार की जाननी चाहिए। यहाँ नित्य तृप्त परमात्मा की जो स्थूलादि विषयों से तृप्ति कही जाती है, वह उसकी लीला ही है।

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते॥5॥

अर्थ

नेत्र, मन और हृदयाकाश में रहने वाला जो विश्व, तैजस और प्राज्ञरूप भोक्ता परमात्मा है तथा उनके जो स्थूल, प्रविविक्त और आनन्दात्मक भोग हैं, जो उन भोक्ता और भोग्यरूप दोनों को जानता है, (भगवान् ही भोक्ता हैं, मैं नहीं, स्थूलादि विषय उनके ही भोग्य हैं, मेरे नहीं, इस प्रकार जानने के कारण कर्तृत्वाभिमानादि से रहित होने से)वह उन विषयों को भोगते हुए भी उनसे लिपायमान नहीं होता।

प्रभवस्[1]सर्वभावानां सताम्[2] इति विनिश्चयः।
सर्वं जनयति प्राणश्[3]चेतोंऽशून्[4] पुरुषः पृथक्॥6॥

अर्थ

सभी पदार्थों का उत्पादक विश्वादि रूपों वाला परमात्मा है, ऐसा विद्वानों का दृढ निश्चय है। (अब इसी को स्पष्ट करते हैं-)प्राण नाम वाला परमात्मा सभी अचेतन पदार्थों को उत्पन्न करता है और उन(अचेतन)से विलक्षण ज्ञानरूपरश्मि (धर्मभूतज्ञान) वाले जीवात्माओं को उत्पन्न करता है।

अनादि काल से विद्यमान नित्य जीवात्माओं का नूतन देह से संयोग ही उनकी उत्पत्ति है। प्रस्तुत श्लोक में जगत् का उत्पादक परमात्मा प्रतिपादित होने से 'जगत् अविद्या का परिणाम है और ब्रह्म का विवर्त है' यह असंगत मत खण्डित हो जाता है, इसे विस्तार से जानने के लिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में जगत् का सत्यत्व, परिणामवाद और अभिन्ननिमित्तोपादानकारण इन प्रकरणों को पढ़ना चाहिए।

ब्रह्म जगत् को उत्पन्न करने वाला है, यह ब्रह्मवेत्ताओं का मत पूर्वकारिका में कहा गया, अब अन्य विद्वानों का मत कहा जाता है-

विभूतिं[5] प्रसवं[6] त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।
स्वप्नमायास्वरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता॥7॥

अर्थ

ब्रह्म का चेतनाचेतनरूप विविध प्रकार का परिणाम सृष्टि है, ऐसा जगत् की सृष्टि के विषय में विचार करने वाले मानते हैं। स्वप्न के पदार्थ और माया(ऐन्द्रजालिक से रचित पदार्थ) के समान सृष्टि मिथ्या है, ऐसी कल्पना अन्य वादी करते हैं।

---

1. प्रभवन्त्यस्मात् सर्वे इति प्रभवः जगदुत्पादकः परमात्मा।
2. ब्रह्मविदाम्।
3. सर्वं जनयतीति सर्वस्य प्रणेतृत्वात् प्राणः परमात्मा।
4. चेतोंऽशून् धर्मभूतज्ञानाख्यरश्मियुक्तान जीवान्।
5. विभूतिं जीवजडात्मना विविधतया भवनं ब्रह्मणः।(कू.भा., ख.व्या.).
6. सृष्टिम् (कू.भा., ख.व्या.)

उक्त श्लोक में आया प्रथम मत भर्तृप्रपंच का है, जो कि जगत् को ब्रह्म का स्वरूपतः परिणाम मानता है और द्वितीय मत निर्विशेषाद्वैतियों का है, जो जगत् को स्वप्न और जादूगर की माया के समान मिथ्या मानता है। कारिकाकार ने 'सृष्टिचिन्तकाः' पद के प्रयोग से यह स्पष्ट कर दिया है कि सृष्टिचिन्तक तत्त्वचिन्तक नहीं हैं। तत्त्वचिन्तकों का पूर्व कारिका में 'सताम्' पद से उल्लेख किया गया है। ब्रह्मसूत्रकार ने स्वयं ''वैधर्म्य होने से जगत् स्वप्नादि के समान नहीं है''-**वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्**(ब्र.सू.2.2.29) इस सूत्र से स्वप्नादि दृष्टान्त से जगत् को मिथ्या सिद्ध करने वाले मत का खण्डन कर दिया है, इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत कारिका में पूर्व पक्ष का ही प्रतिपादन किया गया है। यदि इस कारिका से सृष्टिविषयक सिद्धान्त पक्ष कहा जाता तो यहाँ 'मन्ये' पाठ होता, 'अन्ये' नहीं होता किन्तु 'अन्ये' पाठ है, इससे ज्ञात होता है कि यह पूर्वपक्ष है, सिद्धान्त पक्ष नहीं। इसी प्रकर आगे भी जानना चाहिए।

इच्छामात्रं प्रभोस्सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः[1]।
कालात् प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः॥8॥

अर्थ

जगत् की सृष्टि सर्वसमर्थ परमात्मा की इच्छामात्र(संकल्पमात्र) के अधीन है, ऐसा सृष्टि के विषय में दृढ निश्चय वाले महर्षि कहते हैं तथा काल को ही सर्वश्रेष्ठ मानने वाले विद्वान् काल से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं।

परमात्मा ने संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ-**सोऽकामयत बहु स्याम्**। (तै.उ.2.6.2), **तदैक्षत बहु स्याम्**।(छां.उ.6.2.3) इस प्रकार परमात्मा के संकल्प से ही जगत् की सृष्टि सुनी जाती है, उसे इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। प्रस्तुत कारिका के पूर्वार्ध से सिद्धान्त का

1.श्रीवादिराजतीर्थ मध्वभाष्य की प्रकाशिका व्याख्या में कहते हैं कि विशेषरूप से निश्चय जिनका है, वे तत्त्ववेत्ता विनिश्चित कहलाते हैं, इस प्रकार विनिश्चित पद से ही सिद्धान्त मत सूचित होता है-**विनिश्चिताः विशेषेण निश्चितं निश्चयो येषां ते इति विनिश्चितपदेनैव सिद्धान्तत्वं सूचितम्**।(प्रकाशिका)।

निरूपण करके उत्तरार्ध से मतान्तर का निरूपण किया गया है।

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा॥9॥

अर्थ

अतृप्त परमात्मा के भोग के लिए सृष्टि है, ऐसा अन्य विद्वान् मानते हैं। राजा के कन्दुकविहार के समान परमात्मा की क्रीडा(लीला) के लिए सृष्टि है, ऐसा दूसरे विद्वान् मानते हैं।(पूर्वपक्षों को कहकर अब सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।)लीलारूप सृष्टि परमात्मा का स्वभाव ही है(सृष्टि का अन्य प्रयोजन नहीं)क्योंकि परिपूर्णकाम परमात्मा की कोई इच्छा नहीं हो सकती।

व्याख्या

भगवान् की लीला (क्रीडा)

देवस्यैव स्वभावोऽयम् इस प्रकार कारिकाकार ने जगत् की सृष्टि करना परमात्मा का स्वभाव कहा है, जैसे वसन्त ऋतु में कोकिल का स्वभाव है-गान करना। वह राजादि के रंजन के लिए नहीं होता, अपने अपूर्व सुख के लिए भी नहीं होता क्योंकि उसमें कण्ठक्लेश होता है किन्तु वह गान आम्रादि फलों के आस्वादन से जन्य आनन्दातिरेक से होता है, वैसे ही लीला भगवान् का स्वभाव है, उन्हें सदा आनन्द का अतिरेक ही रहता है और लीला होती रहती है। जीवात्मा को नूतन कर्म करने के लिए तथा पूर्वकृत कर्म का फलभोगने के लिए शरीर-इन्द्रिय प्रदान करना भगवान् की लीला है। जगत् की सृष्टि के समान उसकी स्थिति, संहार, प्राणियों के अन्दर प्रविष्ट होकर नियमन करना और मोक्ष प्रदान करना ये सभी उनकी लीलाएं हैं। यहाँ दृष्टान्त से इतना भेद अवश्य है कि गान करने में कोकिल का कुछ प्रयास अवश्य है किन्तु लीला में परमात्मा का कुछ भी प्रयास नहीं होता।

सर्वार्थसिद्धिकार श्रीवेंकटनाथ वेदान्तदेशिक के अनुसार 'प्रीति (आनन्द) विशेष से जन्य, स्वयं को प्रिय लगने वाला कार्य लीला कहलाता है'- **क्रीडा हि प्रीतिविशेषप्रभवः स्वयंप्रियो व्यापारः** (स.सि.3.1)। अप्रवृत्तिजन्य

दु:ख के भय से संसारी प्राणियों की कार्यों में प्रवृत्ति होती है किन्तु इस कारण परमात्मा की सृष्टि करने में प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि प्रवृत्ति से पहले उनको न तो दु:ख होता है और न ही भय। उस समय भी परमात्मा को बहुत आनन्द रहता है, उस आनन्दविशेष से जन्य तथा उनको प्रिय लगने वाला कार्य सृष्टि है, इसलिए वह लीला कहा जाता है। जैसे आनन्दातिरेक से उन्मत्त व्यक्ति नृत्य करने लगता है। उसका नृत्य आनन्दविशेष से जन्य है और नर्तक का प्रिय कार्य है इसलिए लीला कहा जाता है। श्रीभाष्यप्रकाशिका के अनुसार तत्काल में आनन्द को करने वाला व्यापारविशेष लीला है- **लीला तादात्विकानन्दकरव्यापारविशेषः** (श्रीभा. प्र.1.1.1)। भगवान् को सदा आनन्द ही रहता है और उनकी लीला सदा चलती रहती है। अपनी बुद्धि से अपनी प्रसन्नता के लिए किया जाने वाला कार्य लीला है- **स्वबुद्धिपूर्वकस्वप्रीत्यर्थव्यापारः** (त.टी.1.1.1)ऐसा तत्त्वटीका में कहा है। आनन्द का जनक कार्यविशेष लीला है- **आनन्दजनको व्यापारविशेषः लीला।**

शंका

जैसे निखिल भूमण्डल के सम्राट की कन्दुक क्रीड़ा का प्रयोजन केवल लीला है, वैसे ही परिपूर्ण ईश्वर की सृष्टि का प्रयोजन केवल लीला है-**लोकवत्तु लीला कैवल्यम्** (ब्र.सू.2.1.33)इस ब्रह्मसूत्र से विपरीत कारिकाकार **क्रीडार्थमिति चापरे** इस प्रकार उसे अन्य का मत कहकर सिद्धान्तमत क्यों नहीं मानते?

समाधान

इस विषय में कारिकाकार का **आप्तकामस्य का स्पृहा** यह वचन ध्यान देने योग्य है। अप्राप्त आनन्द को प्राप्त करने की स्पृहा प्राणियों में देखी जाती है। भगवान् को निरतिशय आनन्द सर्वदा प्राप्त है अत: उन्हें अप्राप्त को प्राप्त करने की स्पृहा नहीं हो सकती, इसीलिए कारिकाकार ने **देवस्यैव स्वभावोऽयम्** इस प्रकार सृष्टिरूप लीला को उनका स्वभाव कहा है। यदि कोई माने कि भगवान् अप्राप्त लीलात्मक आनन्द के लिए सृष्टि करते हैं, तो यह उनकी भ्रान्ति है, कारिकाकार ने इसी पूर्व पक्ष का निषेध किया है। ब्रह्मसूत्र में **लोकवत्तु लीला कैवल्यम्** (ब्र.सू.2.1.33)।

2.4

इस प्रकार वर्णित सृष्टि का प्रयोजन अप्राप्त लीलात्मक आनन्द नहीं है अतः सूत्रकार से विपरीत कारिकाकार का मत नही है।

अब सूत्र में उल्लिखित लीला का लक्षण कहा जाता है कि वर्तमान काल में होने वाले आनन्द को लीला कहते हैं-**लीला नाम तादात्विकरसः** (वर.भा.)। प्रायः कर्मों का फल कालान्तर में होता है किन्तु सृष्टि आदि कर्म वैसे नहीं हैं। जैसे भोजन करने का प्रयोजन तृप्ति उसी काल में होती है, कालान्तर में नहीं, वैसे ही सृष्टि करने का प्रयोजन लीलारूप रस उसी काल में होता है, कालान्तर में नहीं।

शंका

सृष्टि का प्रयोजन लीला मानने पर जब तक जगत् की सृष्टि होती रहेगी, तब तक लीला होती रहेगी किन्तु संहार के समय लीला नहीं होगी?

समाधान

ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि संहार भी लीला है अतः लीला सदा चलती रहती है, उसका अभाव कभी नहीं होता। **अखिलभुवन-जन्मस्थेमभङ्गादिलीले**(श्रीभा.मं.1)इस प्रकार श्रीभाष्यकार ने सृष्टि, स्थिति और लय सभी को भगवान् की लीला कहा है। जैसे मिट्टी का घर बनाना और उसका संहार बालक की लीला है, वैसे ही जगत् की सृष्टि और संहार परमात्मा की लीला है।

यहाँ यह पुनः ध्यातव्य है कि सृष्टि आदि कार्यों का प्रयोजन लीला कहा जाता है और सृष्टि आदि कार्य भी लीला कहे जाते हैं। इनमें प्रयोजनरूप लीला तादात्विक रस है और कार्यरूप लीला प्रीतिविशेष से जन्य स्वयं का प्रिय कार्य है।[1]

---

1. श्रीभाष्यकार का **अखिलभुवनजन्मस्थेमभङ्गादिलीले** (श्रीभा.मं.1) यह वचन जगत् के जन्म, स्थिति और लय को लीला कहता है। किन्तु **जगज्जन्मस्थितिध्वंसादेर्लीलैव प्रयोजनम्** (श्रीभा.2.1.33)। यह वचन जगत् के जन्म, स्थिति और लय का प्रयोजन लीला को कहता है। इनमें कुछ विद्वान् प्रथम वचन के आधार पर द्वितीय वचन का 'स्वस्य स्वयं दासः' के समान (जगत् के जन्म,

शंका

क्रीड़ा से पूर्व सम्राट की अरति होती है, अत: वह रति की प्राप्ति के लिए क्रीड़ा करता है। वैसे ही सृष्टि से पूर्व परमात्मा की अरति होती है, अत: वह रति (लीलारूप आनन्द) के लिए सृष्टि करता है। इस प्रकार लीलार्थ सृष्टि मानने पर उनके अवाप्तसमस्तकामत्व से विरोध होता है।

समाधान

उक्त शंका उचित नहीं क्योंकि अवाप्तसमस्तकाम का अर्थ काम्य पदार्थ की निवृत्ति नहीं है क्योंकि वैसा मानने पर परमात्मा को सत्यकाम कहने वाली श्रुति से विरोध होता है। परमात्मा सत्यकाम है-**सत्यकाम:।** (छां.उ.8.1.5) यहाँ सत्य का अर्थ है-नित्य और काम का अर्थ है-काम्य पदार्थ। इस प्रकार सत्यकाम का अर्थ है-भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थानरूप नित्य पदार्थों वाले परमात्मा, वे सभी प्रकार के काम्य पदार्थों वाले हैं अत: अवाप्तसमस्तकाम का अर्थ काम्य की निवृत्ति नहीं हो सकता और अवाप्तसमस्तकाम का अर्थ कामना का अभाव भी नहीं है क्योंकि भगवान् ने संकल्प किया कि बहुत हो जाऊँ- **तदैक्षत बहु स्याम्** (छां.उ.6.2.3), भगवान् सत्यसंकल्प है-**सत्यसंकल्प:**(छां.उ.8.1.5) इत्यादि वचन भगवान् की कामना (संकल्प) और उसके सत्यत्व का भी प्रतिपादन करते हैं अत: संकल्पमात्र से भगवान् सभी कार्यों को करने वाले हैं। यह अवाप्तसमस्तकाम[1] का अर्थ है इसलिए ब्रह्मसूत्र में अवाप्तसमस्तकाम भगवान् के सृष्टि कार्य का प्रयोजन लीला कहा गया है।

सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा की लीला है और वे इससे लीलारस (लीलारूप

स्थिति और लयरूप लीला का प्रयोजन वही जन्मादिरूप लीला ऐसा) औपचारिक अर्थ करते हैं। इसे भावप्रकाशिका 2.1.33 में '**केचिद् ...... वर्णयन्ति**' इस प्रकार एकदेशिमत कहा गया है।

1. स्वेच्छायां सर्वसिद्धिं वदति भगवतोऽवाप्तसमस्तकामत्ववाद:।(त.मु.क.3.1), कामशब्द: इच्छाविषयवाची, अवाप्तशब्द: अहार्थे क्तप्रत्यय: तथा च स्वेच्छानुगुणप्राप्तियोग्य-काम्यविशिष्ट: इति फलित:।

आनन्द) प्राप्त करते हैं। जीव की जाग्रदादि अवस्थाओं का निर्वाह भी उनकी लीला है। जाग्रत में जीव स्थूल विषयों का, स्वप्न में प्रविविक्त विषयों का एवं सुषुप्ति में मात्र अपने स्वरूपभूत आनन्द का भोग करता है। जीव की ये अवस्थाएं तथा इन अवस्थाओं में उसके द्वारा होने वाले भोग भी परमात्मा को लीलारस प्रदान करते हैं। अवस्थाओं के अनुसार उनके लीलारस के साधन भी क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म एवं स्वरूपभूत आनन्द होते हैं, इस दृष्टि से लीलारसिक अन्तर्यामी परमात्मा को माण्डूक्यश्रुतियाँ(मां. उ. 2.1, 2.2, 2.3)स्थूलभुक्, प्रविविक्तभुक् एवं आनन्दभुक् कहती हैं।

शंका

संसारी प्राणी दुःख होने पर उसकी निवृत्ति के लिए कार्य करते हैं। क्या भगवान् को भी दुःख होता है? जिसकी निवृत्ति के लिए वे सृष्टि आदि कार्य करते हैं।

समाधान

यह शंका उचित नहीं है क्योंकि दुःख का कारण पाप होता है। भगवान् का पाप नहीं है-**अपहतपाप्मा**[1] (छां.उ.8.1.5) अतः 'वह दुःख से रहित है'-**विशोकः** (छां.उ.8.1.5) इसलिए सृष्टि का प्रयोजन दुःख की निवृत्ति नहीं है बल्कि लीला प्रयोजन है। इसी अभिप्राय को **लोकवत्तु लीला कैवल्यम्** (ब्र.सू.2.1.33) यह सूत्र व्यक्त करता है। **जगज्जन्मस्थितिध्वंसादेर्लीलैव प्रयोजनम्**(श्रीभा.2.1.33)इस प्रकार श्रीभाष्यकार भी जगत् की सृष्टि आदि का प्रयोजन लीला को कहते हैं।

पञ्चमो मन्त्रः

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमैकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते। स आत्मा। स विज्ञेयः।।5।।

।। इति द्वितीयो खण्डः ।।

1.अत्र पाप्मशब्दः पुण्यपापोभयस्य बोधकः।

अन्वय

अन्तःप्रज्ञं न, बहिःप्रज्ञं न, उभयतःप्रज्ञं न, प्रज्ञानघनं न, प्रज्ञं न, अप्रज्ञं न, अदृष्टम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्, ऐकात्म्यप्रत्ययसारम्, प्रपञ्चोपशमम्, शान्तम्, शिवम्, अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते, सः आत्मा, सः विज्ञेयः।

अर्थ

तुरीय परमात्मा **अन्तःप्रज्ञम्**- अन्तःप्रज्ञ **न**- नहीं है, **बहिःप्रज्ञम्**- बहिःप्रज्ञ **न**-नहीं है। **उभयतःप्रज्ञम्**- उभयतःप्रज्ञ **न**- नहीं है। **प्रज्ञानघनम्**- प्रज्ञानघन **न**- नहीं है। **प्रज्ञम्**- प्रज्ञ **न**- नहीं है। **अप्रज्ञम्**- अप्रज्ञ **न**- नहीं है। **अदृष्टम्**- दृष्ट नहीं है। **अव्यवहार्यम्**- व्यवहार्य नहीं है। अग्राह्यम्- ग्राह्य नहीं है। **अलक्षणम्**- लक्षणरहित है। **अचिन्त्यम्**- चिन्त्य नहीं है। **अव्यपदेश्यम्**- कथन करने के अयोग्य **ऐकात्म्यप्रत्ययसारम्**- केवल परमात्मज्ञान का विषय **प्रपञ्चोपशमम्**- जीव के बन्धन का नाशक **शान्तम्**- छः ऊर्मि से रहित **शिवम्**- आनन्दरूप **अद्वैतम्**- मिथ्याज्ञान का निवर्तक **चतुर्थम्**- तुरीय **मन्यन्ते**-माना जाता है। (जो विश्वादि चार रूपों वाला है।) **सः**- वह **आत्मा**-आत्मा है, **सः**- वह **विज्ञेयः**- जानने योग्य है।

व्याख्या

चतुर्थपाद

जीवनकाल में परमात्मसाक्षात्कार करने वाले की अवस्था तुरीयावस्था कहलाती है, इस अवस्था वाली आत्मा के अधिष्ठाता भगवान् तुरीय कहे जाते हैं, वे अर्धमात्रा के वाच्य हैं।

ब्रह्मदर्शी की तुरीयावस्था

अज्ञानी व्यक्ति ब्रह्म को नहीं देखता और जगत् को स्वतन्त्र देखता है किन्तु तुरीयावस्था वाला ब्रह्मदर्शी सम्पूर्ण जगत् की आत्मारूप से ब्रह्म को देखता है और घटपटादिरूप जगत् को ब्रह्मात्मक देखता है, स्वतन्त्र नहीं देखता अर्थात् भगवद्विभूतिरूप से जगत् को देखता है। इसी स्थिति का

ईशावास्यमन्त्र इस प्रकार वर्णन करता है कि जब शास्त्र से स्वतन्त्र ब्रह्म और परतन्त्र जगत् का स्वरूप जानने वाले को चराचर सम्पूर्ण जगत् मे विशिष्ट परमात्मा का दर्शन होता है, तब सर्वात्मा ब्रह्म के अभेद का दर्शन करने वाले को शोक-मोह नहीं होते- **यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कश्शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥**(ई.उ.7.) ब्रह्म चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय नहीं है, इसलिए अज्ञ व्यक्ति उसे नहीं देखता। **दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या**(क.उ.1.3.12) यह श्रुति ब्रह्म को विशुद्ध मन का विषय कहती है। ब्रह्मोपासक विशुद्ध मन से परब्रह्म, उनके सत्यकामत्वादि गुण तथा श्रीविग्रह का भी दर्शन करता है। विशुद्ध अन्तःकरण से जन्य धर्मभूतज्ञान की वृत्ति इनको विषय करती है। परमात्मा के श्रीविग्रह का चक्षु से भी दर्शन होता है। यह भी अन्तःकरण की विशुद्धि के कारण होता है। ऐसे चक्षु को दिव्यचक्षु कहा जाता है। ब्रह्मदर्शी का घटज्ञान घटप्रकारक ब्रह्मविशेष्यक होता है। घटादि पदार्थों का चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है और ब्रह्म का विशुद्ध मन से प्रत्यक्ष होता है। उसकी दृष्टि में ब्रह्म से पृथक् कुछ है ही नहीं, इसी विषय का **नेह नानाऽस्ति किंचन**[1]।(बृ.उ.4.4.19) यह बृहदारण्यकश्रुति निरूपण करती है।

नान्तःप्रज्ञ, न बहिःप्रज्ञ

सूक्ष्म विषयों का प्रकर्षता से ज्ञान कराता है इसलिए उस दशा का अधिष्ठाता भगवान् तैजस अन्तःप्रज्ञ कहलाता है, इसका अर्थ स्वप्न के पदार्थों का बोधक है- **अन्तःप्रज्ञापयतीत्यन्तःप्रज्ञः स्वप्नार्थप्रदर्शकः**।(कू. भा.)। स्थूल विषयों का प्रकर्षता से बोध कराता है इसलिए उस दशा का अधिष्ठाता भगवान् विश्व बहिःप्रज्ञ कहलाता है, इसका अर्थ जाग्रत् के पदार्थों का बोधक है- **बहिःप्रज्ञापयतीति बहिःप्रज्ञः जाग्रतार्थप्रदर्शकः**। प्रस्तुत पञ्चम मन्त्र में **नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञम्** इस कथन से स्वप्न के पदार्थों का बोधक अन्तःप्रज्ञ की और जाग्रत् के पदार्थों का बोधक बहिःप्रज्ञ की व्यावृत्ति हो जाती है अर्थात् उन दोनों से विलक्षण तुरीय है।

---

1. **इह**= जगत में, ब्रह्म से **नाना**= पृथक्, **किंचन**= कुछ भी, **न**= नहीं अस्ति- है(अर्थात् सब ब्रह्मात्मक ही है)।

शंका

प्रस्तुत खण्ड के प्रथम व द्वितीय मन्त्रों की व्याख्या में जाग्रत के स्थूल विषयो का ज्ञान करने वाले और कराने वाले को बहि:प्रज्ञ तथा स्वप्न के सूक्ष्म विषयों का ज्ञान करने वाले और कराने वाले को अन्त:प्रज्ञ कहा था, तो यहाँ उन विषयों का ज्ञान कराने वाले रूप से (ज्ञापकत्वेन)ही बहि:प्रज्ञ और अन्त:प्रज्ञ का निषेध किया, उन विषयों को जानने वाले रूप से (ज्ञातृत्वेन) उन दोनों का निषेध क्यो नहीं किया?

समाधान

उक्त शंका उचित नहीं क्योंकि संसारी जीव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से गुजरता रहता है किन्तु ब्रह्मदर्शी की केवल तुरीयावस्था होती है, वह सभी के अन्तरात्मारूप से ब्रह्म को सदा जानता रहता है। जैसे संसारी प्राणी कभी स्वतन्त्र स्थूल विषयों को जानता है और कभी स्वतन्त्र सूक्ष्म विषयों को जानता है, उसे इन विषयों का ज्ञान कराने वाले भगवान् बहि:प्रज्ञ और अन्त:प्रज्ञ कहे गये हैं। वैसे तुरीयावस्था वाला ब्रह्मदर्शी कभी स्वतन्त्र इन्हें जानता ही नहीं। उसे जाग्रत और स्वप्न के स्वतन्त्र स्थूल व सूक्ष्म विषयों का ज्ञान न कराने से उस अवस्था वाले ज्ञानी के अधिष्ठाता भगवान् **नान्त:प्रज्ञं न बहि:प्रज्ञम्** इस प्रकार अन्त:प्रज्ञ और बहि:प्रज्ञ से भिन्न कहे जाते हैं किन्तु वे तुरीय भी सर्वज्ञ हैं अत: ब्रह्मदर्शी आत्मा के अतीतकालिक जाग्रत् और स्वप्न के विषयों को जानते हैं इसलिए दोनों का ज्ञातृत्वेन निषेध नहीं किया जाता अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म विषयों का ज्ञापक न होने से तुरीय अन्त:प्रज्ञ और बहि:प्रज्ञ से भिन्न है, तथापि स्थूलसूक्ष्मविषय का ज्ञाता होने से तुरीय उन दोनों से भिन्न नहीं है इस प्रकार अतीत-अनागत, व्यवहित-अव्यवहित इन सभी विषयों को भी जानने से पूर्व मन्त्र **एष: सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ:**। (मां.उ.2.4) इस प्रकार उसे भी सर्वज्ञ कहता है।

नोभयत:प्रज्ञ

द्रष्टा जीव जिस दशा में जाग्रत् के शब्दादि विषयों को जानते हुए स्वप्न के भी दृश्यों को जानता है, वह दशा 'उभयत:' इस पद से ज्ञात होती है, उन दोनों प्रकार के विषयों का ज्ञान कराने वाले विश्व और तैजस

उभयत:प्रज्ञ कहे जाते हैं-**बाह्यशब्दादिकं जानन् स्वाप्नार्थांश्च यदा पश्यति, साऽपि काचिद्दशा उभयत इत्यनेन गृह्यते। उभयतः बाह्याभ्यन्तररूपार्थान् प्रज्ञापयतीति उभयत:प्रज्ञम्।** (कू.भा.), जीव कभी स्वप्न देखते हुए बाहर के भी शब्द को सुनता है, वैसी दशा यहाँ उभयत: शब्द से विवक्षित है। विश्व-तैजस दोनों मिलकर उभयत:प्रज्ञ हैं और जीव की उक्त दशा को न करने वाले तुरीय परमात्मा **नोभयत:प्रज्ञ** इस प्रकार दोनों से भिन्न कहे जाते हैं।

न प्रज्ञानघन

पूर्व में निद्रावस्था के निरूपण में यह कहा जा चुका है कि सोया हुआ स्वयंप्रकाश जीवात्मा का धर्मभूतज्ञान कर्मरूप अविद्या से आवृत होने के कारण वह अपने से भिन्न अन्दर के शोक, मोहादि को नहीं जानता और बाहर के घटादि पदार्थों को भी नहीं जानता। अज्ञान से आवृत सुषुप्त जीवात्मस्वरूप को घन कहते हैं, उसका बोध कराने वाले प्राज्ञ को प्रज्ञानघन कहते हैं, उससे भिन्न तुरीय है, वह अज्ञान से आवृत सुषुप्त जीवात्मा को उसके स्वरूप का बोध नहीं कराता इसलिए श्रुति उसे **न प्रज्ञानघनम्**[1] अर्थात् प्रज्ञानघन से भिन्न कहती है।

न प्रज्ञ

मन के सम्बन्ध से जो वासनाएं होती हैं, उन प्रचुर वासनाओं वाले ध्येय जीवात्मस्वरूप का बोध कराने वाले तैजस को प्रज्ञ कहते हैं और उससे भिन्न तुरीय परमात्मा को श्रुति 'न प्रज्ञ' कहती है-**प्रकर्षेण ज्ञापयति मानसवासनामयं ध्येयमिति प्रज्ञम्, तन्नेति न प्रज्ञम्।**(कू.भा.)। संसारी प्राणी का मन के सम्बन्ध विना कोई अनुभव नहीं होता, उसके होने पर ही अनुभव होता है और उस अनुभव से जन्य वासनाएं होती हैं, इसे संस्कार भी कहते हैं, यही स्मरण का कारण होता है। विविध प्रकार के स्मरणों और कल्पनाओं से संस्कारों की अनुमिति होती है। अनादि काल से संचित नाना वासनाओं का प्रवाह मोक्षपर्यन्त चलता रहता है, ऐसी

---

1. न प्रज्ञानघनम्-प्राग्वद् विपरीतसमासः कर्तव्यः। घनप्रज्ञानमिति घनम् अज्ञानावृतं सुप्तजीवस्वरूपं प्रज्ञापयतीति घनप्रज्ञानम्। तन्न भवतीति न प्रज्ञानघनम् इत्युच्यते। (कू.भा.)।

वासनाओं की प्रचुरता वाला अपना आत्मस्वरूप स्वप्न में ज्ञात होता है। सुषुप्ति में स्वप्रकाश अपनी आत्मा का ही प्रकाश होता है, उस समय संस्कारों का कोई कार्य नहीं होता। जाग्रत अवस्था में इन्द्रियजन्य बाह्य विषयों का अनुभव प्रचुरता से होता है, उसकी अपेक्षा स्मरण अल्प होते हैं अतः उस काल में संस्कारों की प्रचुरता वाले आत्मस्वरूप की प्रतीति नहीं होती। अनुभवात्मक स्वप्न से भिन्न स्मरणात्मक स्वप्न वासनाओं के ही कार्य हैं और उस स्वप्न से प्रचुर वासनाओं की प्रतीति होती है, भगवान् तैजस उन वासनाओं वाले आत्मस्वरूप का बोध कराते हैं अतः प्रज्ञ कहे जाते हैं, तुरीय बोध नहीं कराते इसलिए 'न प्रज्ञ' इस प्रकार प्रज्ञ से विलक्षण कहे जाते हैं।

स्वप्नावस्था में भगवान् तैजस वासनामय आत्मस्वरूप का बोध कराते हैं, ऐसा ऊपर कहा गया किन्तु कूरनारायणमुनि के अनुसार यह बोध तैजस स्वप्न में नहीं कराते अपितु उसके तुल्य अवस्था में कराते हैं इसीलिए वे **अयमपि स्वाप्निकव्यापारतुल्यतया तैजसाख्यभगवद्रूपव्यापारो द्रष्टव्यः।**(कू.भा.) ऐसा कहते हैं। वस्तुतः विशिष्टाद्वैत वेदान्तसिद्धान्त में अनुभवात्मक और स्मरणात्मक भेद से द्विविध स्वप्न स्वीकृत हैं, इसका पूर्व में विस्तार से प्रतिपादन किया जा चुका है। फिर भी इस मतभेद का कारण है–मुनि के द्वारा केवल अनुभवात्मक स्वप्न को ही स्वप्न मानना और स्मरणामक स्वप्न को स्वप्न न मानना।

जाग्रत् दशा में व्यक्ति कदाचित् न तो कोई अनुभव करता है और न ही स्मरण अपितु जड जैसी स्थिति में रहता है, यह स्थिति सुषुप्ति के कार्य के समान है, इसे सम्पन्न करने वाले भगवान् प्राज्ञ हैं, तुरीय नहीं। मन्त्र में आया प्रज्ञ शब्द इनका भी उपलक्षण है अतः 'न प्रज्ञ' शब्द उनसे भी विलक्षण तुरीय का बोधक है। श्रीवादिराजतीर्थ तो कहते हैं कि तुरीय परमात्मा जीव को विश्वादि के समान स्थूल, सूक्ष्म और उभयरूप विषयों का बोध नहीं कराता, इसलिए 'न प्रज्ञ' कहा जाता है 'न प्रज्ञं' **विश्वादिवद् बहिरन्तरुभयतो वा जीवं न प्रज्ञापयतीत्यतः** प्रज्ञं न **इत्युच्यते।**(प्रका.)।

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञम् इस प्रकार तुरीय परमात्मा स्थूल विषयों के प्रकाशक से, सूक्ष्म विषयों के प्रकाशक से, कुछ स्थूल और कुछ सूक्ष्म उभय के प्रकाशक से और सुषुप्त जीवात्मस्वरूप के प्रकाशक से तथा जड़ जैसी स्थिति को करने वाले से विलक्षण कहे गये तो क्या भगवान् तुरीय कुछ नहीं करते? ऐसी शंका होने पर कहते हैं-

न अप्रज्ञम्

यहाँ प्रज्ञ का अर्थ है-प्रज्ञापक, बोधक अर्थात् अनुभव कराने वाला, इससे भिन्न को अप्रज्ञ कहते हैं। तुरीय अप्रज्ञ नहीं है-**अप्रज्ञापकं नेति नाप्रज्ञम्-प्रज्ञापकमेव।**(कू.भा.), पूर्व में 'ब्रह्मदर्शी की तुरीयावस्था' के निरूपण में कहा जा चुका है कि परमात्मा तुरीयावस्थापन्न उपासक को स्वस्वरूपानुभव(ब्रह्मानुभव)कराने वाला है, इसलिए अप्रज्ञ नहीं है।

अदृष्ट

यहाँ दृष्ट का अर्थ है-अनुमेय अर्थात् अनुमानप्रमाण से ज्ञेय, उससे भिन्न अदृष्ट होता है। स्थूल पदार्थों का ज्ञापक विश्व है, सूक्ष्म का ज्ञापक तैजस है और प्राज्ञ स्थूल, सूक्ष्म किसी भी विषय का ज्ञान नहीं कराता अतः स्थूलविषयज्ञापकत्व हेतु से विश्व अनुमेय है, सूक्ष्मविषयज्ञापकत्व हेतु से तैजस अनुमेय है और उभयाभावात्मक कार्य (उभयाभाव अर्थात् उक्त दोनों प्रकार के ज्ञानों का अभाव) हेतु से प्राज्ञ अनुमेय है, इस प्रकार विश्वादि तीनों दृष्ट हैं किन्तु तुरीय इन तीनों से भिन्न है इसलिए श्रुति उसे अदृष्ट कहती है। वह निरतिशय भोग्य ब्रह्म का चतुर्थरूप ब्रह्मदर्शी के द्वारा सदा अनुभाव्य है अथवा दृष्ट का अर्थ है- अज्ञानी के ज्ञान का विषय और अदृष्ट का अर्थ है- अज्ञानी के ज्ञान का अविषय अर्थात् तुरीय परमात्मस्वरूप ब्रह्मदर्शी के ही ज्ञान का विषय है इस कारण अदृष्ट कहा जाता है- **विश्वादिरूपत्रयं बाह्याभ्यन्तरपदार्थज्ञापनतद्व्ययरूपकार्यलिङ्गेनानुमेयम्। न तथा चतुर्थ रूपं दृश्यमित्यदृष्टमिति वा, अमुक्तदृष्ट्यगोचरत्वाद् वा अदृष्टमित्यर्थः।** (कू.भा.)।

अव्यवहार्य, अग्राह्य

यहाँ ग्राह्य का अर्थ है-जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में जीव के अपरोक्षानुभव का विषय और उससे भिन्न को अग्राह्य कहते हैं। जाग्रतादि तीन अवस्थाओं में अपरोक्षानुभव के विषय क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और स्वरूपभूत आनन्द होते हैं, वे ग्राह्य हैं, उनसे भिन्न तुरीय परमात्मस्वरूप को अग्राह्य कहते हैं। उक्त तीन अवस्थाओं में ग्राह्य वस्तु को ही व्यवहार्य कहते हैं और उससे भिन्न को अव्यवहार्य कहते हैं, इस प्रकार स्थूलादि विषय व्यवहार्य हैं और उससे भिन्न तुरीय अव्यवहार्य है।

तुरीयावस्था में ही तुरीय परमात्मा का अपरोक्षानुभव होता है, अन्य अवस्थाओं में नहीं होता अतः ज्ञानी महापुरुष उस अवस्था में उपदेशादिरूप व्यवहार करते हैं।

अलक्षण

जाग्रत्दशाप्रवर्तकत्वादिरूप तीन लक्षणों से रहित होने के कारण तुरीय अलक्षण कहलाता है-**जाग्रत्प्रवर्तकत्वादिलक्षणरहितम्।**(प्रका.) जीव के जाग्रत आदि दशाओं के प्रवर्तक विश्व, तैजस और प्राज्ञ हैं। जाग्रतदशाप्रवर्तकत्व विश्व का लक्षण है, स्वप्नदशाप्रवर्तकत्व तैजस का लक्षण है और सुषुप्तिदशाप्रवर्तकत्व प्राज्ञ का लक्षण है, इस प्रकार विश्वादि तीनों लक्षण वाले हैं, उनसे रहित होने से तुरीय अलक्षण है।

अचिन्त्य, अव्यपदेश्य

असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं, इसके द्वारा ही किसी वस्तु का चिन्तन किया जाता है। चिन्तन करने योग्य वस्तु को चिन्त्य कहते हैं। जाग्रतदशाप्रवर्तकत्वादि तुरीय के लक्षण नहीं हैं अतः वह अचिन्त्य है। चिन्त्य वस्तु ही व्यपदेश्य अर्थात् कहने योग्य होती है। तुरीय अचिन्त्य है इसलिए अव्यपदेश्य भी है। वह जाग्रतदशाप्रवर्तकत्वादिरूप से अचिन्त्य है इसलिए इसीरूप से अव्यपदेश्य है। तुरीय के सर्वथा अव्यपदेश्यत्व की शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि प्रस्तुत मन्त्र ही उसका विविध प्रकार से कथन कर रहा है।

ऐकात्म्यप्रत्ययसार

एक(केवल) परमात्मज्ञान का विषय तुरीय ऐकात्म्यप्रत्ययसार कहा जाता है। जाग्रत अवस्था वाले जीव के नियमनरूप व्यापार से विशिष्ट विश्व है। स्वप्न वाले जीव के नियमनरूप व्यापार से विशिष्ट तैजस है और सुषुप्ति वाले जीव के नियमन से विशिष्ट प्राज्ञ है। इन कार्यों से रहित केवल परमात्मज्ञान का विषय, ज्ञानी का अन्तरात्मारूप से अनुभाव्य तुरीय है इसलिए वह ऐकात्म्यप्रत्ययसार कहलाता है। खण्डार्थव्याख्या और कूरनारायणभाष्य के अनुसार ऐकात्म्यप्रत्ययसार[1] का अर्थ 'एक पूर्णज्ञानरूप आनन्द' है।

प्रपञ्चोपशम

प्रपञ्च का अर्थ है-बन्धन। जीवात्मा के सभी प्रकार के बन्धनों का विनाश करने वाले तुरीय परमात्मा को प्रपञ्चोपशम कहा जाता है-**प्रपञ्चमुपशमयतीति प्रपञ्चोपशमः।**(आ.भा.), तुरीय परमात्मा का साक्षात्कार होने पर जीव का सभी प्रकार का बन्धनरूप प्रपञ्च विनष्ट हो जाता है इसलिए वह प्रपञ्चोपशम कहलाता है-**जीवस्य सर्वविधबन्धरूपः प्रपञ्चोऽस्य तुरीयस्य परिज्ञाने विनश्यतीति तुरीयः प्रपञ्चोपशम उच्यत इति भावः।**(आ.भा.)।

शान्त, शिव

क्षुधा-पिपासा, शोक-मोह, जरा-मृत्यु ये 6 ऊर्मि हैं, परमात्मा के विश्वादि चारों रूप इनसे रहित होने से शान्त हैं और दुःख से रहित आनन्दस्वरूप होने से शिव हैं-**शान्तम् ऊर्मिषट्करहितम्, निर्दुःखसुखरूपत्वाच्छिवम्।** (कू.भा.) किन्तु तुरीयावस्था वाले परमात्मोपासक को ही शान्तत्व और शिवत्व से विशिष्ट तुरीय परमात्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है अंतः प्रस्तुत मन्त्र में इसे ही शान्त और शिव कहा जाता है।

---

1. एकः प्रधानः, आत्मा पूर्णः, एकश्चासावात्मा चैकात्मा, एकात्मैव ऐकात्म्यम्, स्वार्थे ष्यञ् प्रत्ययः ज्ञानरूपः। सारः आनन्दरूप इत्यैकात्म्यपत्ययसारम्।(कू.भा., ख. व्या.।)

अद्वैत

वस्तु तत्त्व की अपेक्षा अन्य प्रकार से ज्ञात होने वाला विषय द्वीत कहलाता है- **द्वित्वेन वस्तुतत्त्वापेक्षया अन्यात्मकत्वरूपद्वितीयप्रकारेण इतम् ज्ञातं द्वीतम्**, इसका अर्थ है- मिथ्याज्ञान का विषय। द्वीत से सम्बन्ध रखने वाले मिथ्याज्ञान को द्वैत कहते हैं। जिससे द्वैत नहीं रहता, वह मिथ्याज्ञान का निवर्तक तुरीय ब्रह्म अद्वैत कहा जाता है- **द्वीतस्येदं द्वैतं= मिथ्याज्ञानम्। न विद्यते द्वैतं यस्मात् तदद्वैतम् मिथ्याज्ञानविरोधि।** देहादि को आत्मा समझना अहन्ता है, जो वस्तु अपनी नहीं है, उसे अपनी समझना ममता है तथा ब्रह्मात्मक(ब्रह्म का शरीरभूत) अपनी आत्मा को स्वतन्त्र समझना स्वातन्त्र्याभिमान है, ये तीनों मिथ्या ज्ञान कहलाते हैं, इसका मूल अनादिकाल से संचित कर्मात्मिका अविद्या है। तुरीय ब्रह्म के साक्षात्कार से मिथ्याज्ञान के सहित अविद्या निवृत्त हो जाती है इसलिए वह अद्वैत कहलाता है।

तुरीय

तत्त्ववेत्ता उक्तरीति से प्रतिपादित ब्रह्म के विश्वादि से विलक्षणरूप को चतुर्थ अर्थात् तुरीय मानते हैं।

विज्ञेय आत्मा

सोऽयमात्मा चतुष्पात्।(मां.उ.1.2)इस प्रकार प्रथम खण्ड में जिस परमात्मा के चार पादों के निरूपण की प्रतिज्ञा करके प्रस्तुत द्वितीय खण्ड में जिसके विश्वादि पादों का निरूपण किया गया, वह चतुष्पाद परमात्मा मुमुक्षु के द्वारा अवश्य विज्ञेय है। विशेषरूप से ज्ञेय वस्तु को विज्ञेय कहते हैं-**विज्ञेयत्वं विशेषेण ज्ञेयत्वम्।** विशेषण से विशिष्ट वस्तु ही विशेषरूप से ज्ञेय होती है, इस विवरण से स्पष्ट है कि विज्ञेय ब्रह्म सविशेष ही है, निर्विशेष नहीं। उस ब्रह्म को ही जानो, अनात्मविषयक चर्चा को छोड़ दो-**तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ।** (मु.उ.2.2.5) अनात्मविषयक चर्चा से कोई लाभ नहीं अतः मोक्षप्राप्त्यर्थ ब्रह्मज्ञान के लिए यत्नशील होना चाहिए। श्रीभारद्वाजरामानुजाचार्य **स आत्मा**[1]। स

1. **सोऽयमात्मा चतुष्पात्** इति प्रतिज्ञात विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयाख्यरूपचतुष्टयं सपरिकर

विज्ञेयः यहाँ पर तुरीय का आत्मा और विज्ञेय कहते हैं किन्तु श्रीकूरनारायणमुनि, श्रीरामानन्दाचार्य, श्रीराघवेन्द्रतीर्थ और अमोलकरामशास्त्री चतुष्पाद ब्रह्म को ही आत्मा और विज्ञेय कहते हैं।

अत्रैते श्लोकाः भवन्तीति-

नान्तःप्रज्ञम् *इस मन्त्र से कहे गये तुरीय ब्रह्म के विषय में ये श्लोक हैं-*

माण्डूक्यकारिका:

निवृत्तेः[1] सर्वदुःखानामीशानः[2] प्रभुरव्ययः।
अद्वैतस्सर्वभावानां[3] देवस्तुर्यो विभुस्स्मृतः॥10॥

अर्थ

जीवों के सभी प्रकार के दुःखों की निवृत्ति का कारण सर्वनियन्ता, समर्थ निर्विकार ब्रह्म है, वह मिथ्याज्ञान का निवर्तक, व्यापक, तुरीय परमात्मा मोक्षप्राप्ति के लिए सभी जीवात्माओं का उपास्य है।

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिद्धयतः॥11॥

अर्थ

पूर्वोक्त विश्व और तैजस दोनों ही कार्य और कारणरूप बन्धन वाले माने जाते हैं। प्राज्ञ कारणरूप बन्धन वाला है किन्तु तुरीय में वे दोनों बन्धन सिद्ध नहीं होते अर्थात् जाग्रत् और स्वप्नावस्था वाले जीव के कार्य और कारणरूप बन्धन के स्वामी विश्व और तैजस माने जाते हैं तथा

निरूप्य रूपत्रयविषये मन्त्रानुदाहृत्य चतुर्थविषये मन्त्रानुदाहरिष्यन् इदानीं चतुरूपात्मा अवश्यं ज्ञातव्य इति वदन्नुपसंहरति-**स आत्मेति**।(कू.भा., ख.व्या.)।

1. अत्र 'कारणमिति शेषः'।(कू.भा.),
2. ईशानत्वं नियन्तृतयेति द्रष्टव्यम्।
3. सर्वभावानाम्- भवन्ति देहयोगेनोत्पद्यन्त इति भावाः जीवाः, तेषां कर्तरि षष्ठी। देवः उपास्यः। (उ.प्र.)

सुषुप्ति अवस्था वाला जीव का कारणरूप बन्धन का स्वामी प्राज्ञ माना जाता है किन्तु तुरीय ब्रह्म जीवात्मा के इन बन्धनों को नहीं करता।

व्याख्या

अहन्ता, ममता और स्वातन्त्र्याभिमानरूप मिथ्याज्ञान का निरूपण 'अद्वैत' की व्याख्या में किया जा चुका है, ये कार्यरूप बन्धन हैं और इनका जनक अज्ञान कारणरूप बन्धन है। जाग्रत् और स्वप्नावस्था में जीवात्मा उभय बन्धनों से युक्त है तथा सुषुप्ति अवस्था में कारणरूप बन्धन से युक्त है किन्तु ब्रह्म किसी भी बन्धन से युक्त नहीं फिर भी उन अवस्थाओं वाले जीवात्मा के द्वारा उसके अधिष्ठाता विश्व, तैजस और प्राज्ञ नाम वाले ब्रह्म के बन्धन कहे गये हैं, ऐसा जानना चाहिए किन्तु तुरीय ब्रह्म में सद्वारक बन्धन भी नहीं होता, वह बन्धनरहित जीव का स्वामी है।

न प्रज्ञानघनं नाप्रज्ञं *इस प्रकार प्रतिपादित प्राज्ञ से तुरीय की विलक्षणता के विषय में कारिका कही जाती है–*

नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम्।
प्राज्ञः किंचन संवेत्ति तुर्यं तत्[1] सर्वदृक्[2] सदा॥12॥

अर्थ

प्राज्ञ परमात्मा सुषुप्त आत्मा को आनन्दरूप से भिन्नरूप में उसके स्वरूप का बोध नहीं कराता और उसे अन्य आत्माओं के स्वरूप का बोध कराता ही नहीं। दृश्य जगत् का और शुक्तिरजतादि का भी बोध नहीं कराता। वह आनन्दरूप जीवात्मस्वरूप का बोध कराता है किन्तु तुरीय परमात्मा अपना साक्षात्कार करने वाले को सदा सभी का बोध कराता रहता है।

व्याख्या

तुरीय परमात्मा का साक्षात्कार करने वाला सदा सभी को जानता रहता है, यह **तुर्यं तत्सर्वदृक् सदा** का अभिप्राय है, इसका मूल छान्दोग्योपनिषत्

---

1. तत् प्रसिद्धं तुरीयं वासुदेवः।(प्रदी.)
2. सर्वं दर्शयतीति सर्वदृक्, मुक्तौ तत्तद्योग्यं सन् सर्वदा प्रदर्शयतीत्यर्थः, कृ.भा.॥

का **येनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति।**(छां.उ.6.1.3)यह वाक्य है, इसमें एक के ज्ञान से सभी के ज्ञान की प्रतिज्ञा की गयी है। ब्रह्म के ज्ञान से ही सभी का ज्ञान हो जाता है।

निर्विशेषाद्वैतमत

जगत् का मिथ्यात्व

उक्त प्रतिज्ञा का यह अर्थ है कि कारण वस्तु ही सत्य है, कार्य पदार्थ मिथ्या हैं। मिट्टी से घट, शराव आदि अनेक कार्य पदार्थ बनते हैं, ये पदार्थ नाममात्र हैं, वस्तुतः नहीं हैं, मृत्तिका ही सत्य है, इससे यह स्पष्ट है कि कार्य होने से सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है, उसका कारण ब्रह्म ही सत्य है, उसी को **सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकम् एवाद्वितीयम्।**(छां.उ.6.2.1) यह श्रुति निर्विशेष कहती है, उसी के ज्ञान से सबका ज्ञान होता है।

सविशेषाद्वैतमत

जगत् का सत्यत्व

उक्त 'एक के ज्ञान से सभी के ज्ञान की प्रतिज्ञा' निर्विशेषाद्वैत मत में संभव ही नहीं क्योंकि इस मत में ब्रह्म जगत् का विवर्तोपादान कारण है, उसमें जगत् आरोपित होकर उसी प्रकार भासता है, जिस प्रकार शुक्ति में रजत आरोपित होकर भासती है। अधिष्ठान शुक्ति के अज्ञानकाल में अध्यस्त रजत भासती है। अधिष्ठान का ज्ञान होने पर कार्यसहित अज्ञान का नाश हो जाता है, इसलिए जब अधिष्ठान ब्रह्म का ज्ञान होने पर अध्यस्त जगत् रहता ही नहीं, तब एक के ज्ञान से सबके ज्ञान की प्रतिज्ञा संभव ही नहीं। यदि विवर्तवादी कहना चाहे कि अधिष्ठान का ज्ञान होने पर अध्यस्त कार्य उससे अलग नहीं, यह प्रतिज्ञावाक्य का अर्थ है, तो यह भी संभव नहीं क्योंकि यह उक्त वाक्य का अर्थ ही नहीं है। श्रुति एक के विज्ञान से सबके विज्ञान को कहती है। जब शक्तिवृत्ति से ही प्रतिज्ञावाक्य के अर्थ का सम्यक् निर्वाह हो जाता है तो प्रकारान्तर से अर्थ करना उचित नहीं। यदि जगत् और ब्रह्म का अभेद मानकर प्रतिज्ञा का निर्वाह किया जाए तो सत्य और मिथ्या पदार्थ की एकता माननी पड़ेगी और ऐसा होने पर 'जगत् सत्य है, ब्रह्म मिथ्या है' इसे भी आपको कहना चाहिए। 'शुक्ति ज्ञात होने पर रजत ज्ञात हो ही जाता है क्योंकि वहाँ शुक्ति

से अतिरिक्त रजत रहता ही नहीं, इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञात होने पर जगत् ज्ञात हो जाता है क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त जगत् है ही नहीं' वादी का यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि परमार्थ वस्तु अपरमार्थरूप नहीं हो सकती और आपके मत में सत्य पदार्थ का ज्ञान होने पर सभी मिथ्या पदार्थों का ज्ञान मानना पड़ेगा। वस्तुतः सत्य पदार्थ का ज्ञान होने पर मिथ्या पदार्थ का ज्ञान नहीं होता किन्तु सत्य पदार्थ का ज्ञान होने पर मिथ्या पदार्थ के ज्ञान का अभाव होता है इसलिए शुक्ति ज्ञात होने पर रजत ज्ञात हो गयी, यह व्यवहार भी नहीं होता, वैसे ही आपके मत में 'ब्रह्म ज्ञात होने पर जगत् ज्ञात हो गया' यह व्यवहार नहीं हो सकता। इस विवरण से स्पष्ट है कि जगत्मिथ्यात्व पक्ष में एक के ज्ञान से सभी का ज्ञान नहीं हो सकता अतः जगत् मिथ्या नहीं है, इसे विस्तार से समझने के लिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में 'जगत् का सत्यत्व' प्रकरण पढ़ना चाहिए।

विशिष्टाद्वैत वेदान्तसिद्धान्त में जगत् का उपादान कारण ब्रह्म एवं जगत् कार्य इन दोनों को सत्य माना जाता है तथा जगत् को ब्रह्मात्मक माना जाता है इसलिए इस मत मे 'एक को जानने से सब कुछ जाना जाता है' यह प्रतिज्ञा अच्छी प्रकार लग जाती है। प्रलय अवस्था में ब्रह्म सूक्ष्मचेतनाचेतन से युक्त होकर रहता है। सृष्टिकाल में वही प्रकृतिशरीरक परमात्मा महत्, अहंकार, पंचतन्मात्रा, एकादश इन्द्रिय और पंचमहाभूत इन त्रयोविंशति तत्त्वशरीरक हो जाता है, फिर वह अनन्त ब्रह्माण्डरूप होता है तथा देव, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावरशरीरक हो जाता है। इस प्रकार सूक्ष्मचेतनाचेतनशरीरक ब्रह्म ही स्थूलचेतनाचेतनशरीरक हो जाता है, इस प्रकार कारण ब्रह्म और कार्य जगत् दोनों एक ही हैं, इसलिए एक कारण ब्रह्म को जानने से सभी कार्य पदार्थ जाने जाते हैं।

शंका

यदि एक के ज्ञान से सब का ज्ञान होता है तो ब्रह्मवेत्ता सर्वविद् अर्थात् सबको विशेषरूप से जाननेवाला होना चाहिए।

समाधान

यह शंका उचित नहीं क्योंकि कार्य-कारण का अभेद होने से एक

कारण का ज्ञान होने पर 'सभी कार्य वह कारण ही है' इस प्रकार श्रुति एक कारण के ज्ञान से सभी कार्य के ज्ञान को कहती है। वह ज्ञान कारणतावच्छेदकरूप से होता है, विशेषरूप से नहीं होता इसलिए ब्रह्मवेत्ता सबको विशेषरूप से नहीं जानता है। जैसे एक मिट्टी कारण का ज्ञान होने पर उसके 'सभी घटादि कार्य मिट्टी ही हैं,' इस प्रकार एक मृत्तिका के ज्ञान से सभी घटादि कार्यों का ज्ञान होता है, वैसे ही एक कारण ब्रह्म का ज्ञान होने पर उसका कार्य सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है, इस प्रकार एक ब्रह्म के ज्ञान से सभी जगत् का ज्ञान होता है, अन्य प्रकार से ज्ञान नहीं होता। ब्रह्मवेत्ता को सबके ब्रह्म होने में कोई संदेह कभी भी नहीं होता है। संसार की वस्तुओं के कौन-कौन विशेष गुण हैं? ब्रह्मवेत्ता का ऐसी बातों से कोई प्रयोजन ही नहीं रहता है। इस प्रकार उसके सर्वविद् होने की शंका का निराकरण हो जाता है।

शंका

ब्रह्मदर्शी का सर्वविषयकज्ञान स्वीकार करने पर शुक्तिरजतविषयक ज्ञान भी स्वीकार करना होगा और ऐसा होने पर उसे भ्रमित भी मानना पड़ेगा?

समाधान

ब्रह्मदर्शी सर्वज्ञ होने से वह शुक्तिरजत को भी जानता है किन्तु वह उसे अनृतत्वेन ही जानता है, सत्यत्वेन नहीं अतः उसे भ्रमित नहीं माना जा सकता।

द्वैतस्याग्रहणं[1] तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते॥13॥

अर्थ

प्राज्ञ और तुरीय ये दोनों समानरूप से द्वैत का बोध नहीं कराते। द्वैत की प्रतीति का कारण जीव की अविद्यारूप निद्रा को करने वाला प्राज्ञ है किन्तु तुरीय उस निद्रा को भी नहीं करता।

---

1. ग्रहणाहेतुत्वम्(कू.भा., ख.व्या.)।

व्याख्या

द्वैत

द्वैत का अर्थ भेद है। वह दो प्रकारका होता है-ब्रह्मात्मक द्वैत और अब्रह्मात्मक(स्वतन्त्र) द्वैत।

ब्रह्मात्मक द्वैत और अब्रह्मात्मक द्वैत

ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य सः ब्रह्मात्मकः इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्रह्म के द्वारा नियाम्य वस्तु ब्रह्मात्मक कही जाती है और **भिद्यते व्यावर्त्यत इति भेदः** इस व्युत्पत्तिके अनुसार व्यावृत्त (भिन्न) पदार्थ भेद या द्वैत कहे जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्मात्मक पदार्थों को ही ब्रह्मात्मक द्वैत कहा जाता है और इससे अन्य द्वैत अब्रह्मात्मक (स्वतन्त्र) द्वैत कहा जाता है। सामान्य मनुष्य घटपटादिरूप द्वैत को ही देखते हैं, ब्रह्म को नहीं देखते अतः इनके द्वारा अनुभूयमान द्वैत स्वतन्त्र द्वैत है। अज्ञानी को घट अनुभव में आता है और ज्ञानी को ब्रह्म(घटविशिष्ट ब्रह्म)अनुभव में आता है। अज्ञानी घट को स्वतन्त्र समझता है, ज्ञानी ब्रह्मात्मक समझता है। कोई उन्मत्त ही अपने द्वारा कहे गये का निषेध कर सकता है, अपौरुषेय श्रुति ऐसा नहीं कर सकती इसलिए श्रुति के द्वारा जिस द्वैत का निषेध किया जाता है, वह विहित से अतिरिक्त द्वैत है। श्रुति से विहित द्वैत ब्रह्मात्मक है और उससे इतर स्वतन्त्र द्वैत है अतः श्रुति ब्रह्मात्मक द्वैत से इतर स्वतन्त्र द्वैत का निषेध करती है। ज्ञान से इसी द्वैत का बाध होता है। विशिष्टाद्वैत वेदान्तसिद्धान्त में इस लोकसिद्ध द्वैत से विलक्षण ब्रह्मात्मक द्वैत स्वीकार किया जाता है। सर्वात्मा ब्रह्म सभी जनों के अन्दर प्रविष्ट होकर शासन(नियमन) करने वाला है-**अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा**।(तै.आ.3.11.3) इस श्रुति के अनुसार सविशेषाद्वैती आचार्य **यत्र हि द्वैतमिव भवति.....तदितर इतरं पश्यति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्.......तत्केन कं पश्येत?**(बृ.उ.2.4.14) इस बृहदारण्यक श्रुति के उत्तर भाग में आये आत्मा पद का अर्थ अन्तः प्रविश्य नियन्ता(जगत के अन्दर प्रवेश करके नियमन करने वाला) करते हैं। चेतनाऽचेतनात्मक जगत् परब्रह्म का शरीर है और परब्रह्म उसकी आत्मा है। द्वैतनिषेधक वाक्य परब्रह्म के शरीरभूत ब्रह्मात्मक द्वैत का निषेध नहीं करते, वे तो अब्रह्मात्मक द्वैत का निषेध करते हैं और ऐसा होने पर

यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति यह पूर्वखण्ड स्वतन्त्र वस्त्वन्तर(अब्रह्मात्मक द्वैत) के अभाव का ही प्रतिपादन करता है। स्वतन्त्र वस्त्वन्तर के होने पर इतर इतर को देख सकता है किन्तु स्वतन्त्र वस्त्वन्तर है ही नहीं। ब्रह्मात्मक द्वैत वेदैकगम्य है, यह सूक्ष्म है, इससे भी सूक्ष्म अद्वैत(सविशेषाद्वैत) तत्त्व है। प्रस्तुत श्रुति का **यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्** यह उत्तरार्ध भाग इसी अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन करता है और यही समग्र शास्त्रों का प्रधान प्रतिपाद्य है। उसने संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ- **सोऽकामयत बहु स्याम्।**(तै.उ.2.6.2), **तद् ऐक्षत बहु स्याम्।**(छां.उ.6.2.3)वह परमात्मा ही नामरूपों से विभक्त हुआ-**तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत।**(बृ.उ.1.4.7) इन श्रुतियों से ज्ञात होता है कि परब्रह्म ही अपने संकल्प से विचित्रचेतनाऽचेतनरूप होने के कारण नाना प्रकार वाला होकर स्थित है। यह ब्रह्मात्मक नाना प्रकाररूप द्वैत श्रुतिसिद्ध सविशेष ब्रह्म की एकता का विरोधी नहीं है, इसका विरोधी तो अब्रह्मात्मक द्वैत है इसलिए द्वैतनिषेधक वाक्यों के द्वारा इसी द्वैत का निषेध किया जाता है। **यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्।**(बृ.उ.2.4.14)इस श्रुतिवाक्य के उपक्रम में कहा गया है कि सब लोग उसे परास्त कर देते हैं, जो परमात्मा से पृथक्(परमात्मा के विना अर्थात् स्वतन्त्र) सब(द्वैत)को जानता है- **सर्वं तं परादात् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद।**(बृ.उ.2.4.6), वस्तुतः कुछ भी परमात्मा से पृथक् नहीं है, सब उससे अपृथक्सिद्ध है इसलिए प्रस्तुत श्रुति परमात्मा से पृथक् पदार्थ(स्वतन्त्र द्वैत) को जानने वाले की निन्दा करती है। **तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति।**(बृ.उ.1.4.10) यह श्रुति परमात्मसाक्षात्कार की दशा में 'अहम्' इस प्रकार द्रष्टा आत्मा के तथा मनुसूर्यादि दृश्य पदार्थों के भी साक्षात्कार का प्रतिपादन करती है। द्वैतनिषेधक श्रुतियों के द्वारा सकल द्वैत का निषेध मानने पर प्रस्तुत श्रुति से भी विरोध होगा। अहं शब्द के वाच्य प्रकारी(विशेष्य) परमात्मा की अनुभूति काल में द्रष्टा, दृश्य आदि सभी उसके अपृथक्सिद्ध विशेषणरूप से अनुभूत होते हैं। अज्ञानी मनुष्य को लौकिक पदार्थों की अनुभूतिकाल में प्रकारी परमात्मा का अनुभव न होने के कारण द्रष्टा और दृश्य स्वतन्त्ररूप से ज्ञात होते हैं। शास्त्र इन्हीं स्वतन्त्र द्वैतों का निषेध करते हैं। ब्रह्मात्मक द्वैत का भी निषेध मानने पर वामदेवादि के साक्षात्कार को भ्रान्ति मानना पड़ेगा किन्तु वह

भ्रान्ति नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि शास्त्र ब्रह्मात्मक द्वैत का निषेध नहीं करते अत एव प्रस्तुत ब्रह्मात्मक द्वैत को स्वीकार न करने वाला निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्त ही शास्त्रसम्मत सिद्ध नहीं होता और उसे स्वीकार करने वाला विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त ही वेदप्रतिपाद्य है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता आचार्य मानते हैं।

ऊपर ब्रह्मात्मक और अब्रह्मात्मक इन दो प्रकार वाले द्वैत का निरूपण किया गया। विश्व और तैजस अब्रह्मात्मक द्वैत का ज्ञान कराते हैं। प्राज्ञ आनन्दरूप आत्मा का बोध कराता है किन्तु उस (आनन्दरूप आत्मा) से अतिरिक्त बाह्य या आभ्यन्तर किसी द्वैत का बोध नहीं कराता इसीलिए बृहदारण्यक श्रुति कहती है कि सुषुप्त पुरुष किसी भी द्वैत को नहीं देखता– **यद् द्वैतं न पश्यति।** (बृ.उ.4.3.23), तुरीय भी इस अब्रह्मात्मक द्वैत का बोध नहीं कराता, इस प्रकार प्राज्ञ और तुरीय इन दोनों में द्वैत का अबोधकत्व समानरूप से है। अब्रह्मात्मक द्वैत की प्रतीति का बीज अविद्या है, प्राज्ञ परमात्मा जीव की उस अविद्यारूप निद्रा को करने वाला है किन्तु उस अविद्यात्मक निद्रा का कर्तृत्व तुरीय में नहीं है, वह ब्रह्मदर्शी को सभी के अन्तरात्मारूप से ब्रह्मानुभव और ब्रह्मात्मकत्वेन सभी का अनुभव कराने वाला है।

जब सुषुप्ति में अब्रह्मात्मक द्वैत की प्रतीति का बीज अविद्या रहती है, तो उस द्वैत की प्रतीति क्यों नहीं होती? ऐसी शंका करना उचित नहीं क्योंकि पूर्व में सुषुप्ति के निरूपण में कहा गया है कि उस काल में मनसहित सभी इन्द्रियाँ अपने कार्यों से निवृत्त होकर आत्मा में स्थित हो जाती हैं और वह परमात्मा में स्थित हो जाती है, इस प्रकार करणों का विभागरूप सामग्री का अभाव होने से द्वैत की प्रतीति नहीं होती। निद्रा से भिन्न जाग्रत और स्वप्न काल में भी अविद्या रहती ही है तथा करणों का विभागरूप सामग्री भी रहती है, इसलिए द्वैतप्रतीति होती है। जाग्रत में सभी करणों का विभागरूप सामग्री रहती है और स्वप्न में मन का विभागरूप सामग्री रहती है। निद्राकाल में इस सामग्री का अभाव होने से अविद्या का पूर्ण साम्राज्य रहता है इसलिए निद्रा को अविद्यारूप कहा जाता है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्राज्ञ किसी भी द्वैत का बोध नहीं कराता किन्तु तुरीय अब्रह्मात्मक द्वैत का बोध नहीं कराता।

अब प्रकारान्तर से विश्वादि की समानता और विषमता कही जाती है

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः॥14॥

अर्थ

विश्व और तैजस दोनों ही देहात्मभ्रमादि तथा अविद्या से युक्त जाग्रत् और स्वप्नावस्था वाले जीव के स्वामी हैं किन्तु प्राज्ञ भ्रम के बिना केवल अविद्या से युक्त सुषुप्ति अवस्था वाले जीव का अधिष्ठाता है। तत्त्ववेत्ता तुरीय ब्रह्म में भ्रम और अविद्या से युक्त आरम्भ की तीन अवस्थाओं वाले जीव के स्वामित्व को नहीं देखते।

व्याख्या

प्रस्तुत कारिका में निद्रा शब्द का अर्थ अविद्या है और उसका कार्य देहात्मभ्रमादि स्वप्न शब्द का अर्थ है, यहाँ आदि से मन्त्र (2.5)में अद्वैत पद की व्याख्या में प्रोक्त ममता और स्वातन्त्र्याभिमान समझना चाहिए, यह देहात्मभ्रमादि ही अब्रह्मात्मक द्वैत की प्रतीति है। देहात्मभ्रमादिरूप कार्य बन्धन तथा अविद्यारूप कारणबन्धन वाले जीव के स्वामी विश्व और तैजस 11वीं कारिका में **कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ** इस प्रकार कहे गये थे तथा केवल कारणरूप बन्धन वाला जीव का स्वामी प्राज्ञ **प्राज्ञः कारणबद्धः** इस प्रकार कहा गया था। ब्रह्मवेत्ताओं के अनुसार तुरीय जीव की अविद्या और देहात्मभ्रमादि को नहीं करता।

तुरीय परमात्मा की प्राप्ति कब होती है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते॥15॥

अर्थ

अन्यथाज्ञान से स्वप्न होता है, तुरीय ब्रह्म तत्त्व को न जानने से निद्रा होती है और इन दोनों विपर्ययों के क्षीण होने पर आत्मा तुरीय परमात्मा

को प्राप्त करती है।

व्याख्या

अहन्ता(देहात्मबुद्धि), ममता(अस्वकीय पदार्थों में स्वकीयत्वबुद्धि) और स्वातन्त्र्यबुद्धि (ब्रह्मात्मक पदार्थों को अब्रह्मात्मक अर्थात् स्वतन्त्र समझना) इन तीन प्रकार के मिथ्याज्ञानों का पूर्व में निरूपण किया गया। कारिकागत स्वप्न शब्द का अर्थ है-मिथ्याज्ञानरूप भ्रम की परम्परा का प्रवाह और निद्राशब्द का अर्थ है-भ्रम का कारणभूत अज्ञान। मिथ्याज्ञान से जीव का मिथ्याज्ञानरूप भ्रम की परम्परा का प्रवाह सदा चलता रहता है। तुरीय ब्रह्म को न जानने से अज्ञान बना रहता है किन्तु उसके साक्षात्कार से मिथ्याज्ञानसहित अज्ञान नष्ट होने पर आत्मा तुरीय परमात्मा को प्राप्त करती है।

जीव ब्रह्म का साक्षात्कार कब करता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं[1] बुध्यते तदा॥16॥

अर्थ

अनादि माया से सोया हुआ जीव जब जागता है, तब जन्म से रहित तथा (जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं वाले) भ्रम और अज्ञान से युक्त उस(जीव)के अधिष्ठाता विश्वादि तीन रूपों से भिन्न अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार करता है।

व्याख्या

देह, इन्द्रिय और विषयरूप में परिणत प्रकृति आत्मस्वरूप और परमात्मस्वरूप को आवृत करके भ्रम को उत्पन्न करती है। यह पूर्व में कहा ही गया है कि देहादि को आत्मा समझना भ्रम है, ब्रह्मात्मक जगत् और अपनी आत्मा को स्वतन्त्र समझना भ्रम है, इसका मूल अज्ञान है। भगवान् की अनादि त्रिगुणात्मिका माया से अपने आत्मस्वरूप और

1. अद्वैतं मिथ्याज्ञाननिवर्तकम्।

परमात्मस्वरूप के अज्ञान को प्राप्त हुआ जीव जब श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु की कृपा से उनके यथार्थस्वरूप का बोध प्राप्त करता है, तब जन्म और विनाश से रहित तथा विश्वादि तीनों रूपों से भिन्न, कारण(अज्ञान)सहित मिथ्याज्ञान के निवर्तक तुरीय अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार करता है।

माया

विचित्र सृष्टि करने से और अनात्म पदार्थों में भोग्यत्वभ्रम को उत्पन्न करके मोहजनक होने से त्रिगुणात्मिका प्रकृति को ही माया कहा जाता है।

शंका

त्रिगुणात्मिका प्रकृति का **मायां तु प्रकृतिं विद्यात्** (श्वे.उ.4.10) इस प्रकार 'माया' शब्द से प्रतिपादन होने के कारण वह अनिर्वचनीय अज्ञान ही सिद्ध होती है, उससे भिन्न सिद्ध नहीं होती।

समाधान

यह शंका उचित नहीं क्योंकि शास्त्रों में कहीं भी अनिर्वचनीय अज्ञान का बोधक मायाशब्द नहीं देखा जाता। मायाशब्द मिथ्या का पर्याय होने के कारण **मायां तु प्रकृतिं विद्यात्** इस श्रुति में ही अनिर्वचनीय वस्तु का बोधक है, यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि वहाँ भी माया शब्द मिथ्या का पर्याय नहीं है। असुर और राक्षस आदि के सत्य अस्त्र-शस्त्रों के लिए माया शब्द का प्रयोग देखा जाता है। बालक प्रह्लाद के शरीर की रक्षा करने में प्रवृत्त भगवान् विष्णु के शीघ्रगामी सुदर्शन चक्र ने शम्बरासुर के द्वारा प्रयुक्त असंख्य माया को एक-एक करके काट दिया- **तेन मायासहस्त्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना। बालस्य रक्षता देहमेकैकं च निषूदितम्** (वि.पु.1.19.20) ज्ञान से बाधित होने वाली अनिर्वचनीय माया को एक एक करके शस्त्र से काटना संभव नहीं किन्तु इस श्लोक में चक्र के द्वारा एक-एक करके काटना कहा गया है, इस कारण यहाँ माया शब्द सत्य आयुधों का ही वाचक है। इस प्रकार यहाँ माया शब्द आश्चर्यमय वस्तु का वाचक है, मिथ्या अर्थ का वाचक नहीं है। आश्चर्यमय पदार्थों की सृष्टि करने के कारण **मायां तु प्रकृतिं विद्यात्** यहाँ पर माया शब्द से आश्चर्यमय प्रकृति कही गयी है। माया के प्रेरक परमात्मा माया शब्द के

वाच्य प्रकृति से जगत् को उत्पन्न करते हैं और उसमें जीव माया से मोहित हो जाता है- **अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः।** (श्वे.उ.4.9) इस प्रकार माया शब्द की वाच्य, विचित्र सृष्टि का साधन प्रकृति कही जाती है। माया का अधिपति होने से परमपुरुष को मायी कहा जाता है, अज्ञानी होने से मायी नहीं कहा जाता। **तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः** इस प्रकार परमात्मा से भिन्न जीव का ही बन्धन कहा जाता है। सर्वेश्वर अपनी माया से नानारूप धारण करता है- **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।**(बृ.उ.2.5.19) यहाँ पर मायाशब्द से परमेश्वर की विविध-विचित्र शक्तियाँ कही जाती हैं। मैं अपनी माया से अवतार लेता हूँ- **संभवाम्यात्ममायया**(गी.4.6) इस प्रकार माया शब्द से भगवान् का संकल्प कहा जाता है। मेरी त्रिगुणात्मिका प्रकृति का अतिक्रमण करना कठिन है- **गुणमयी मम माया दुरत्यया।** (गी.7.14) यहाँ पर गुणमयी शब्द का प्रयोग होने से 'माया' शब्द के द्वारा त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही कही जाती है, अनिर्वचनीय अज्ञान नहीं कहा जाता। जादूगर अपनी माया से सभी कार्य करता है, इस लौकिक वाक्य में 'माया' शब्द सत्य मन्त्र और सत्य औषध का बोधक है, मिथ्या पदार्थ का बोधक नहीं, इस विवेचन से सिद्ध होता है कि आर्ष ग्रन्थों में प्रयुक्त 'माया' पद सर्वत्र आश्चर्यमय पदार्थों का वाचक है अतः प्रस्तुत कारिका में भी उसे सत्य आश्चर्यमयी प्रकृति का ही वाचक मानना चाहिए अतः क्वचिद् मिथ्या अर्थ में प्रयुक्त माया पद लाक्षणिक जानना चाहिए।

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत[1] न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥17॥

अर्थ

जीव का बन्धनरूप प्रपंच यदि है तो वह ब्रह्मसाक्षात्कार से निवृत्त होता है, इस विषय में कोई संशय नहीं है। यह घटपटादिरूप द्वैत मायामात्र है, परमार्थतः अद्वैत है।

व्याख्या

जीव का संसार से बन्धनरूप प्रपंच स्वाभाविक नहीं, वह अनादि

1. निवर्तत एव।(कू.भा., ख.व्या.)।

काल से संचित पुण्यपापरूप कर्मात्मिका अविद्या उपाधि के कारण है, इसे सूचित करने के लिए कारिका में यदि शब्द प्रयुक्त है। ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा स्वभावतः प्रकृति के सम्बन्ध से विनिर्मुक्त ही है। यदि यह बन्धन स्वाभाविक होता तो निवृत्त नहीं होता, वह औपाधिक है, इसलिए साक्षात्कार से निवृत हो जाता है। ब्रह्म के अपरोक्ष से घटपटादिरूप द्वैत क्यों निवृत्त नहीं होता? ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि **मायामात्रम्**[1] **इदं द्वैतम्**। यह घटपटादिरूप ब्रह्मात्मक द्वैत परमात्मा के अधीन रहने वाली उसकी सत्य त्रिगुणात्मिका माया का कार्य है अतः सत्य है इसलिए निवृत्त नहीं होता, यदि कल्पित होता तो निवृत्त हो जाता। ब्रह्मात्मक द्वैत सत्य है और अद्वैत ब्रह्म भी सत्य है तो इन दोनों में क्या भेद है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि ब्रह्मतत्त्व परमार्थ[2] अर्थात् स्वतन्त्र है, द्वैत जगत् ब्रह्मात्मक अर्थात् ब्रह्म का शरीरभूत है, उनके अधीन है, स्वतन्त्र नहीं। इन दोनों का विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में ही 'अक्षर' के विवेचन में द्रष्टव्य है।

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचिद्।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते॥18॥

अर्थ

यदि संसार से बन्धनरूप विकल्प किसी अज्ञान से स्वाभाविकत्वेन कल्पित है, तो गुरुदेव के उपदेश से (मननादि करने पद)निवृत्त होता है। ब्रह्म का साक्षात्कार करने पर मिथ्याज्ञान नहीं रहता, यह गुरुजनों के द्वारा किया जाने वाला उपदेश है।

व्याख्या

यह पूर्व कारिका की व्याख्या में कहा गया है कि बन्धन औपाधिक है, स्वाभाविक नहीं, वह स्वाभाविकत्वेन कल्पित है इसलिए उपदेश से ज्ञान प्राप्त करके मनन, निदिध्यासन करने पर निवृत्त हो जाता है। पूर्व मन्त्र (2.5)की व्याख्या में द्वैत का अर्थ मिथ्याज्ञान किया गया है, उसका

---

1. मायया निर्मितं जातमित्यर्थः।
2. परमार्थशब्दः स्वनिष्ठपरः, परम उत्कृष्टोऽर्थः परमार्थः, स्वतन्त्र इति यावत्।(भा. प्र.1.1.1) परमश्चासावर्थश्च परमार्थः, उत्तमोऽर्थो भगवान्।(ख.व्या.)।

निवर्तक अद्वैत ब्रह्म है। ब्रह्म का साक्षात्कार करने पर मिथ्याज्ञान नहीं रहता, यही मोक्ष के लिए महापुरुषों के द्वारा किया जाने वाला उपदेश है।

तृतीयः खण्डः

द्वितीय खण्ड में समस्त प्रणव के प्रतिपाद्य ब्रह्म के विश्वादि चार रूपों का निरूपण करके अब प्रस्तुत खण्ड में उन्हीं रूपों की प्रणव के अंशभूत अकारादि से प्रतिपाद्यत्वादिरूप महिमा का कथन करने के लिए पूर्वोक्त (मां.उ.1.2) विषय का अनुवाद करते हैं-

प्रथमो मन्त्रः

हरिः ओम्।

सोऽयमात्मा अध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रम्। पादा मात्रा मात्राश्च पादाः अकार उकारो मकार इति॥1॥

अन्वय

स ओंकारः अयम् आत्मा अध्यक्षरम्, अधिमात्रम्। पादाः मात्राः च मात्राः पादाः। अकारः उकारः मकारः इति।

अर्थ

सः-पूर्वोक्त **ओंकारः**-ओंकार शब्द का वाच्य **अयम्**-चतुष्पाद **आत्मा**-ब्रह्म **अध्यक्षरम्**[1]-सर्वाधिक सत्य है। वह **अधिमात्रम्**-अधिक अंशों वाला है। **पादाः**-विश्वादिरूप **मात्राः**-मात्राएं हैं **च**-और **मात्राः**-मात्रारूप **पादाः**-पाद हैं। **अकारः**-विश्व **उकारः**-तैजस **मकारः**-प्राज्ञ (और तुरीय) **इति**- ये चारों पाद 'अधिमात्रम्' यहाँ पर मात्रा शब्द से कहे गये हैं।

व्याख्या

<u>**सोऽयमात्मा**</u>

विश्वादि रूपों वाला ब्रह्म ओंकार शब्द का वाच्य है, यह इसी उपनिषत् के प्रथम खण्ड (मां.उ.1.2) में कहा गया था। यहाँ माहात्म्य कथन करने के लिए अनुवाद किया जा रहा है।

---

1. अक्षरशब्दस्वाभाव्यान्नपुंसकलिङ्गता।(कृ.भा.)।

अध्यक्षर

सबसे अधिक सत्य वस्तु को अध्यक्षर कहते हैं-**अध्यक्षरम् अधि सर्वतोऽधिकं च तदक्षरम् अविनाशि चेत्यध्यक्षरम्**।(कू.भा.) **अधिकं सर्वत अविनाशि चेत्यध्यक्षरम्**।(म.भा.) अनादि गुरुपरम्परा से प्राप्त वेदान्तसिद्धान्त में जगत् को मिथ्या नहीं माना जाता। अचेतन पदार्थ सत्य हैं, उनकी अपेक्षा आत्मा सत्य है और इसकी भी अपेक्षा परमात्मा सत्य है, इस प्रकार सर्वाधिक सत्य ब्रह्म ही सिद्ध होता है। इसके विस्तृत विवेचन के लिए इसी ग्रन्थ में अक्षर शब्द की व्याख्या देखनी चाहिए।

अधिमात्र

यहाँ मात्रा का अर्थ अंश है। अधिक अंश वाले ब्रह्म को अधिमात्र कहते हैं-**अधि अधिकाः मात्राः अंशा यस्य तदधिमात्रम्।** (कू.भा.)। यहाँ अंश शब्द से रूप विवक्षित है। ब्रह्म के एक से अधिक चार रूप हैं, इन रूपों वाला ब्रह्म ही यहाँ अधिमात्र शब्द से कहा जाता है।

पादा मात्रा मात्राश्च पादाः

जो ज्ञात होते हैं, वे विश्वादिरूप पाद कहलाते हैं-**पद्यन्ते(ज्ञायन्ते) इति पादाः विश्वादिरूपाणि**।(ख.व्या.)। प्रस्तुत उपनिषत् से भगवान् के चार रूपों का ज्ञान होता है, वे ज्ञेय रूप भगवान् के पाद हैं, पाद ही मात्राएं हैं और मात्राएं ही पाद हैं। पाद कौन कौन से हैं? अब ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

अकार उकारो मकार

'अ' इस प्रकार विश्व का प्रतिपादन किया जाता है, इसलिए उसे (विश्व को) अकार कहते हैं-**अ इत्याक्रियते प्रतिपाद्यत इत्यकारः विश्वः**। (कू.भा.) अर्थात् अकार का अर्थ विश्व है, इसी रीति से उकार का अर्थ तैजस है और मकार का अर्थ प्राज्ञ है। मन्त्र का यह वाक्य उपलक्षण[1] है, इससे नाद के अर्थ तुरीय का भी ग्रहण होता है, इस प्रकार विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय नाम वाले पाद 'अधिमात्रम्' में मात्रा शब्द

---

1. उपलक्षणमिदम्। नादबोध्यस्तुरीयोऽपि वाक्यशेषोक्त्या ग्राह्यः।(कू.भा.)।

से कहे जाते हैं।

अब स्थाननिर्देशपूर्वक अवर्ण से प्रतिपाद्य भगवान् के प्रथम रूप का निरूपण किया जाता है-

द्वितीयो मन्त्रः

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा, आप्तेरादिमत्त्वाद् वा। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, आदिश्च भवति, य एवं वेद॥2॥

अन्वय

अकारः जागरितस्थानः वैश्वानरः प्रथमा मात्रा, आप्तेः वा आदिमत्त्वात्। यः ह वै एवं वेद, सर्वान् कामान् आप्नोति च आदिः भवति।

अर्थ

अकारः- 'अ' इस प्रकार प्रतिपादन किया जाने वाला **जागरितस्थानः**- जागरितस्थान **वैश्वानरः**- वैश्वानर (ओंकार से प्रतिपाद्य ब्रह्म का) **प्रथमा**- प्रथम **मात्रा**- रूप है। (अर्थात् अ का अर्थ वैश्वानर है, इसमें दो हेतु कहे जाते हैं-) **आप्तेः**- क्योंकि जीवों को भोग्य विषयों की प्राप्ति कराता है **वा**- और **आदिमत्त्वात्**- क्योंकि प्राज्ञ और तैजसरूप आदि (कारण) वाला है (इसलिए अ का अर्थ विश्व है)। **यः**- जो **ह वै**- प्रसिद्ध उपासक **एवम्**- इस प्रकार (उक्त दो हेतुओं से अकार के वाच्य विश्व को जानकर) विश्व की **वेद**- उपासना करता है। वह **सर्वान्**- सभी **कामान्**- वांछित पदार्थों को **आप्नोति**- प्राप्त करता है **च**- और (उसकी मोक्षप्राप्ति में) उपास्य विश्व **आदिः**- कारण **भवति**- होता है।

<u>व्याख्या</u>

विश्वोपासना

द्वितीय खण्ड के प्रथम मन्त्र (2.1) की व्याख्या में जागरितस्थान वैश्वानर का निरूपण किया गया था। प्रस्तुत व्याख्येय मन्त्र से पूर्व मन्त्र (3.1)में 'अकारः' इस प्रकार वैश्वानर के लिए अकार शब्द का प्रयोग है और द्वितीय मन्त्र में भी 'वैश्वानरोऽकारः' इस प्रकार वैश्वानर के लिए अकार शब्द का प्रयोग है इसलिए पुनरुक्ति दोष प्राप्त होता है, यह शंका

उचित नहीं क्योंकि पूर्व मन्त्र में उद्देश्यविधेयभाव नहीं है और यहाँ जागरितस्थान प्रथममात्रा वैश्वानर को उद्देश्य करके 'अकारः' इस प्रकार अवर्णप्रतिपाद्यत्व का विधान किया जाता है इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं है, इसी प्रकार आगे के दो मन्त्रों में पुनरुक्ति का अभाव जानना चाहिए- **अत्र जागरितस्थानं प्रथममात्रां वैश्वानरमुद्दिश्य अकार इत्यवर्णप्रतिपाद्यत्वं विधीयत इत्यपौनरुक्त्यम्। एवमग्रेऽपि**(कू.भा.)।

अकार का अर्थ वैश्वानर होने में प्रस्तुत मन्त्र 'आप्ति' और 'आदिमत्त्व' इन दो हेतुओं को कहता है। जीवों को भोगने योग्य भोग्य विषयों की भोग के लिए प्राप्ति कराता है, इसलिए विश्व को 'अ' कहा जाता है अर्थात् 'अ' का अर्थ विश्व है- **तत्तज्जीवयोग्यभोग्यविषयान् भोगाय आपयति प्रापयति विश्व इति 'अ[1]' इत्युच्यते। विश्व इत्यर्थः।** (ख.भा.), प्राज्ञ और तैजस विश्व के आदि हैं इसलिए वह आदिमान् है, इस कारण भी विश्व को 'अ' कहा जाता है- **प्राज्ञः तैजसश्चादी अस्येत्यादिमान्, तस्माद् वा 'अ' इत्युच्यत इत्यर्थः।** (कू.भा.) यहाँ आदि का अर्थ कारण है। प्राज्ञ और तैजस किस प्रकार विश्व के आदि होते हैं? अब इस विषय को स्पष्ट किया जाता है- जीव जब जाग्रत से सुषुप्ति में जाता है, तब उसका अधिष्ठाता विश्व प्राज्ञ से एकीभूत होता है और सुषुप्ति से उत्थान होने पर वह प्राज्ञ से विविक्त होकर नेत्रस्थान में आता है तथा जीव जब जाग्रत से स्वप्न में जाता है, तब उसका अधिष्ठाता विश्व तैजस से एकीभूत होता है और स्वप्न से उत्थान होने पर तैजस से विविक्त होकर नेत्रस्थान में आता है। इस प्रकार विश्व के प्राज्ञ और तैजस आदि सिद्ध होते हैं इसलिए वह 'आदिमान्' कहलाता है तथा आदिमान होने से विश्व अ है। यहाँ विश्व का प्राज्ञ से विविक्त होने का अर्थ है- परमात्मा के प्राज्ञरूप से विश्वरूप का आविर्भाव और विश्व का तैजस से विविक्त होने का अर्थ है- परमात्मा के तैजसरूप से विश्वरूप का आविर्भाव। वह प्राज्ञ और तैजस से विविक्त होकर जीव की जाग्रत् अवस्था का निर्वाह करने के लिए नेत्रस्थान में आता है। अब विश्व के उपासक को प्राप्त होने वाला

---

1. 'आप्लृ व्याप्तौ' इति धातोः अन्तर्णीतण्यर्थात् 'ड' प्रत्यये टिलोपे च 'अ' इति रूपमिति भावः।(कू.भा.)।

फल कहा जाता है-जो उपासक अकार के वाच्य वैश्वानर की उपासना करता है, वह अपने अभीष्ट विषयों को प्राप्त करता हैं और भगवान् विश्व उसे मोक्षप्रदान करते हैं।

तृतीयो मन्त्रः

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रा, उत्कर्षादुभयत्वाद् वा। उत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिम्, समानश्च भवति। नास्याब्रह्मवित् कुले भवति, य एवं वेद॥3॥

अन्वय

उकारः स्वप्नस्थानः तैजसः द्वितीया मात्रा, उत्कर्षात् वा उभयत्वात्। य एवं वेद, ह वै ज्ञानसंततिम् उत्कर्षति समानः भवति च अस्य कुले अब्रह्मवित् न भवति।

अर्थ

उकारः- 'उ' इस प्रकार प्रतिपादन किया जाने वाला **स्वप्नस्थानः**- स्वप्नस्थान **तैजसः**- तैजस (ओंकार से प्रतिपाद्य ब्रह्म का) **द्वितीया**- द्वितीय **मात्रा**- रूप है। (तैजस को 'उ' कहने में दो हेतु कहे जाते हैं-) **उत्कर्षात्**- क्योंकि उत्कर्षण करता है **वा**- और **उभयत्वात्**- क्योंकि उभयत्व है (इसलिये तैजस को 'उ' कहा जाता है।) **य**- जो **एवम्**- इस प्रकार (दो हेतुओं से उकार के वाच्य तैजस को जानकर) तैजस की **वेद**- उपासना करता है। वह **ह वै**- प्रसिद्ध उपासक **ज्ञानसंततिम्**- दर्शनसमानाकारब्रह्माकारवृत्ति को प्राप्त करता है, **उत्कर्षति**- संसार से अपना उद्धार करता है, **समानः**- मुक्तात्माओं में इसका अन्तर्भाव **भवति**- होता है **च**- और **अस्य**- इस उपासक के **कुले**- कुल में (कोई) **अब्रह्मवित्**- अब्रह्मवेत्ता **न**- नहीं **भवति**- होता।

व्याख्या

तैजसोपासना

स्वप्नस्थान तैजस का पूर्वखण्ड के द्वितीयमन्त्र (2.2) की व्याख्या में प्रतिपादन किया जा चुका है। तैजस को 'उ' कहने में श्रुति 'उत्कर्ष' और

'उभयत्व' दो हेतुओं को कहती है। (जीव की) जाग्रत् दशा में विद्यमान देहाभिमान से (उसे) उठाकर(अर्थात् जाग्रतकालिक) देहाभिमान का त्याग कराके स्वप्नस्थान में जीव को खींचता (ले जाता) है, इस प्रकार उत्कर्षण करने से तैजस को 'उ' कहते हैं-**जाग्रद्दशायां विद्यमानदेहाभिमानाद् उत्थाप्य देहाभिमानं त्याजयित्वा स्वप्नमण्डले जीवं कर्षतीत्युत्कर्षणाद् हेतोः।**(ख.व्या.), जाग्रत् काल में जीव की देहात्मबुद्धि का त्याग एक दुष्कर कार्य है किन्तु भगवान् उसकी देहात्मबुद्धि का त्याग कराके उसे स्वप्नस्थान हितानाडी में ले जाते हैं, इस प्रकार उत्कर्षण करने (ले जाने) से भगवान् तैजस 'उ' कहे जाते हैं। वे स्वप्नावस्था में जाग्रत् के पदार्थों की अज्ञानरूप निद्रा कराते हैं और स्वप्न के पदार्थों का ज्ञान कराते हैं, इस प्रकार उभयत्व हेतु से (अज्ञानरूप निद्रा को कराने से और स्वप्न के पदार्थों का ज्ञान कराने से) भगवान् तैजस 'उ' कहे जाते हैं। जो उपासक उकार के वाच्य तैजस की उपासना करता है, वह दर्शनसमानाकार ब्रह्माकारवृत्ति को प्राप्त करता है, संसार से अपना उद्धार करता है, मुक्तात्माओं का सान्निध्य प्राप्त करता है और उसके कुल में उत्पन्न होने वाले सभी ब्रह्मवेत्ता होते हैं, कोई अब्रह्मवेत्ता नहीं होता।

चतुर्थो मन्त्रः

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा, मितेरपीतेर्वा। मिनोति ह वा इदं सर्वम्, अपीतिश्च भवति, य एवं वेद।।4।।

अन्वय

मकारः सुषुप्तस्थानः प्राज्ञः तृतीया मात्रा। मितेः वा अपीतेः। यः एवं वेद। ह वा इदं सर्वम् मिनोति च अपीतिः भवति।

अर्थ

मकारः- 'म' इस प्रकार प्रतिपादन किया जाने वाला **सुषुप्तस्थानः**- सुषुप्तस्थान **प्राज्ञः**- प्राज्ञ (ओंकार से प्रतिपाद्य ब्रह्म का) **तृतीया**- तृतीय **मात्रा**- रूप है। (प्राज्ञ को म कहने में दो हेतु कहे जाते हैं-) **मितेः**- क्योंकि जीव को अन्दर भेजता है **वा**- और **अपीतेः**- क्योंकि जीव को

वृत्तियों के लय का कारण है। (इसलिए प्राज्ञ को 'म' कहा जाता है।) **यः**- जो **एवम्**- इस प्रकार (दो हेतुओं से मकार के वाच्य प्राज्ञ को जानकर) प्राज्ञ की **वेद**- उपासना करता है, वह **ह वा**- प्रसिद्ध उपासक **इदं सर्वम्**- इस जगत् को **मिनोति**- अपने अन्दर कर लेता है **च**- और (इस उपासक के दुःखादि सम्पूर्ण अनिष्टों का) **अपीतिः**- लय **भवति**- हो जाता है।

व्याख्या

प्राज्ञोपासना

सुषुप्तस्थान प्राज्ञ का द्वितीय खण्ड के तृतीयमन्त्र की व्याख्या में प्रतिपादन किया जा चुका है। प्राज्ञ को 'म' कहने में प्रस्तुत माण्डूक्यश्रुति 'मिति' और 'अपीति' इन दो हेतुओं को कहती है। जाग्रत अवस्था में जीवात्मा नेत्रस्थान में रहता है और स्वप्न अवस्था में हिता नाडी में रहता है किन्तु सुषुप्ति अवस्था में परमात्मा प्राज्ञ उसे अन्दर हृदय में स्थित अपने में भेज देता है, इस प्रकार अपने भीतर भेजने के कारण परमात्मा को 'म' कहा जाता है- **मितेः स्वात्मनि जीवमन्तर्गमयतीति स्वान्तर्गमनहेतोः** (कू. भा., ख.व्या.)। अपीति का अर्थ अप्यय अर्थात् लय का कारण है। प्राज्ञ सुषुप्ति में जीव की वृत्तियों का लय कर देता है, इसलिए भी 'म' कहलाता है- **वृत्तिज्ञानस्यापीतेः अप्ययशब्दितलयकारणत्वाद् म इत्याक्रियत इत्यर्थः**। (कू.भा.), उक्त दो हेतुओं से मकार का वाच्य प्राज्ञ है, उस प्राज्ञ की जो उपासना करता है, वह जगत् को अपने अन्दर ले जाता है अर्थात् जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करता है, वैसे ही अणु आत्मा संसारबन्धन से विनिर्मुक्त होकर अपने धर्मभूत ज्ञान से सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करती है और इसके दुःखादि समस्त अनिष्टों का पूर्णतः विनाश हो जाता है।

अत्रैते श्लोकाः भवन्ति-

पूर्वमन्त्रों (3.2-4) में परमात्मा के विश्वादिरूपों की उपासना के फल कहे गये, अब उसी विषय में ये श्लोक कहे जाते हैं-

माण्डूक्यकारिकाः

विश्वस्यात्वविवक्षायाम्[1]आदिसामान्यमुत्कटम्।
मात्रासंप्रतिपत्तौ[2] स्यादाप्तिसामान्यमेव च॥19॥

अर्थ

आदिमत्त्वेन अकार का अर्थ विश्व होने से उस (विश्व) की (प्रणव के एकदेश)अकारवाच्यत्वेन (अर्थात् अकार के वाच्य विश्व की) उपासना करने पर उपासक की आदिमत्त्वेन विश्व से स्पष्ट समानता होती है और आप्ति के कारण अकार का अर्थ विश्व होने से भगवान् के विश्वरूप का ध्यान (उपासना) करने पर सभी पदार्थों की प्राप्ति से ही ध्यानकर्ता की विश्व के साथ समानता होती है।

व्याख्या

मन्त्र 3.2 के अनुसार विश्व के आदि (कारण) प्राज्ञ और तैजस होने से वह आदि वाला है, विश्व के उपासक को मुक्तावस्था में प्राप्त होने वाले आनन्द में विश्व ही आदि होने से विश्वोपासक भी आदि वाला होता है, इस प्रकार आदिमत्त्वेन दोनों की समानता होती है। उपास्य भगवान् विश्व को सभी पदार्थ प्राप्त ही हैं, वे उपासक को भी प्राप्त होने पर उसकी विश्व से समता हो जाती है।

तैजसस्योत्वविज्ञाने उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम्।
मात्रासंप्रतिपत्तौ[3] स्यादुभयत्वं तथाविधम्॥20॥

---

1. अत्वविवक्षायामिति विवक्षापदेनोपासनं ग्राह्यम्। आदिमत्त्वाद् वा इत्यत्रोक्तदिशा आदिमत्त्वनिमित्तेन विश्वस्य प्रणवैकदेशावर्णवाच्यत्वोपासनायाम् सत्यामुपासकस्य आदिसामान्यम् आदिश्च इत्यत्रोक्तदिशा आदिमत्त्वसामान्यं आदित्वेन विश्वसाम्यं भवति।(कू.भा., ख.व्या.)।
2. मात्रा आत्मनोंऽशः विश्वः। आप्तिनिमित्तकप्रणवांशाकारार्थ इति विश्वरूपांशध्याने ध्यातुराप्तिसामान्यमेव स्यात्। सर्वकामावाप्त्यैव विश्वसाम्यमेव भवेदित्यर्थः। (कू.भा.,ख.व्या.)।
3. प्रागुक्तदिशोभयहेतुत्वनिमित्तेन प्रणवांशोकारवाच्यत्वेन आत्मांशतैजसध्यानेन तस्य ध्यातुस्तथाविधं प्रागुक्तं ज्ञानसन्ततिरूपसर्वज्ञत्वं समानत्वं चेत्युभयवत्त्वं स्यादित्यर्थः। (कू.भा.,ख.व्या.)।

अर्थ

उत्कर्षनिमित्त से उ का अर्थ तैजस समझकर प्रणव के एक अवयव उकारवाच्यत्वेन तैजस की उपासना करने पर उपासक को संसार से अपने उद्धार का स्पष्ट अनुभव होता है और उभयत्वनिमित्त से उ का अर्थ तैजस समझकर भगवान् के तैजसरूप का ध्यान करने पर ध्यानकर्ता की तैलधारावदविच्छिन्नदर्शनसमानाकारब्रह्माकारवृत्ति होती है तथा उसका मुक्तात्माओं में अन्तर्भाव होता है।

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यम्[1] उत्कटम्।
मात्रासंप्रतिपत्तौ[2] तु लयसामान्यम्[3] एव च॥21॥

अर्थ

पूर्वोक्त मितिरूप निमित्त से प्रणव के एक देश मकार के वाच्य प्राज्ञ की उपासना करने पर उपासक की प्राज्ञ से सर्वान्तर्भावरूप समानता स्पष्ट है। अपीतिरूप निमित्त से भगवान् के प्राज्ञरूप का ध्यान करने पर दुःखादि का लय होने से ध्यानकर्ता की प्राज्ञ से समानता ही होती है।

त्रिषु धामसु यत्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैष महामुनिः॥22॥

अर्थ

जो भगवान् के तीनों रूपों में उक्त रीति से ध्यान करने पर ध्यानकर्ताओं की उन विश्वादि रूपों से तुल्यता अर्थात् समानता को निश्चितरूप से जानता है, वह ज्ञानी महामुनि सभी प्राणियों के द्वारा पूज्य और वन्दनीय हो जाता है।

अकारो[4] नयते विश्वं[5] उकारश्चापि तैजसम्।
मकारश्च पुनः[6] प्राज्ञं नामात्रे विद्यतेऽगतिः॥23॥

---

1. सर्वान्तर्भावरूपप्राज्ञसाम्यम्(कू.भा.)।
2. ऐन्द्रियिकविज्ञानलयकृतनिमित्तेन प्रणवांशमकारवाच्यत्वेन आत्मांशप्राज्ञ ध्याने(कू. भा.)।
3. दुःखादिलयकृत्त्वेन प्राज्ञसाम्यमेव स्यादित्यर्थः(कू.भा.)।
4. अ इत्याक्रियमाणो विश्वः ।(कू.भा., ख.व्या.)।

अर्थ

'अ' इस प्रकार कहा जाने वाला विश्व उपासक को अपने विश्वस्वरूप की प्राप्ति कराता है, 'उ' इस प्रकार कहा जाने वाला तैजस उपासक को अपने तैजसस्वरूप की प्राप्ति कराता है और 'म' इस प्रकार कहा जाने वाला प्राज्ञ उपासक को पुनः अपने प्राज्ञस्वरूप की प्राप्ति कराता है। तुरीय में अज्ञेयत्व नहीं है अर्थात् वह उपासक का ज्ञेय ही है।

व्याख्या

'अमात्रे (तुरीये) विद्यते गतिः' ऐसा कहने से ही अर्थबोध संभव है, तो 'नामात्रे विद्यते अगतिः' ऐसा कारिकाकार ने क्यों कहा? ऐसी शंका उचित नहीं क्योंकि विश्वादि के समान जैसे बहिष्प्रज्ञत्वादि धर्म तुरीय में नहीं हैं, वैसे ज्ञेयत्व भी उसमें न हो, इस कुशंका के निवारणार्थ 'नामात्रे विद्यते अगतिः' ऐसा कहा गया है। मन्त्र में भी **स विज्ञेयः**। (मां.उ.2.5) ऐसा कहकर तुरीय के ज्ञेयत्व का निरूपण किया गया है।

॥ इति तृतीयः खण्डः ॥

चतुर्थः खण्डः

अब ***नान्तःप्रज्ञम्*** *(मां.उ.2.5)इस मन्त्र से कहे गये तुरीय परमात्मा के गुणों का अनुवाद करके उसके नादप्रतिपाद्यत्व को कहते हुए चतुष्पाद परमात्मा की उपासना का फल कहा जाता है-*

हरिः ओम्।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानम्। य एवं वेद, य एवं वेद।

॥ इति चतुर्थः खण्डः॥

॥ माण्डूक्योपनिषत् समाप्ता। ॥

अन्वय

चतुर्थः अमात्रः अव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवः अद्वैतः एवम् ओंकारः

---

5. विश्वं स्वात्मानम् (कू.भा., ख.व्या.)।
6. पुनश्शब्दः प्रत्यहं सुप्तौ प्राप्तिसत्त्वेऽपि तुरीयावस्थायां तत्प्राप्त्यभिप्रायेणेति ज्ञेयम्।

आत्मा एव। यः एवं वेद, य एवं वेद, आत्मना आत्मानम् संविशति।

अर्थ

चतुर्थः- तुरीय **अमात्रः**- मात्रा से भिन्न **अव्यवहार्यः**- व्यवहार्य से भिन्न **प्रपञ्चोपशमः**- जीव के बन्धन का नाशक **शिवः**- आनन्दरूप (और) **अद्वैतः**- मिथ्याज्ञान का निवर्तक है। जिस प्रकार ओंकार के एक देश अकारदि के वाच्य विश्वादि हैं **एवम्**- इसी प्रकार **ओंकारः**- ओंकार के एक देश नाद का वाच्य **आत्मा**- तुरीय परमात्मा **एव**- ही है। **यः**- जो व्यक्ति **एवम्**- इस प्रकार (अमात्रत्वाव्यवहार्यत्वादिविशिष्टत्वेन) ओंकार के एक देश नाद से प्रतिपाद्य तुरीय परमात्मा की **वेद**[1]- उपासना करता है। **यः**- जो व्यक्ति **एवम्**- इस प्रकार ओंकार के एक देश नाद से प्रतिपाद्य तुरीय परमात्मा की **वेद**- उपासना करता है, वह **आत्मना**- तुरीय परमात्मा से अनुगृहीत होकर (समस्त ओंकार के वाच्य चतुष्पाद परमात्मा की उपासना करके) **आत्मानम्**-चतुष्पाद परमात्मा को **संविशति**- प्राप्त करता है।

व्याख्या

तुरीयोपासना

ओंकार में अकार, उकार और मकार ये तीन मात्रायें हैं किन्तु चतुर्थ नाद अर्धमात्रा है, इसे पूर्णमात्रा न होने से श्रुति इसके वाच्य का 'अमात्र'

---

1. मन की ब्रह्मदृष्टि से उपासना करें-**मनो ब्रह्मेत्युपासीत** (छां.उ.3.18.1) इस प्रकार उपासना शब्द से आरम्भ किये गये विषय का 'जो पुरुष इस प्रकार जानता है, वह दानजन्य कीर्ति से और पराक्रमजन्य यश से प्रकाशित होता है, तथा वेदाध्ययन की समृद्धिरूप ब्रह्मतेज से सम्पन्न होकर अपना कार्य करने में उत्साहित होता है'-**भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद**।(छां.उ.3.18.3) इस प्रकार वेद शब्द से उपसंहार देखा जाता है। रैक्व जिस वेद्य को जानता है, अन्य विद्वान् उसके अन्तर्गत ही कुछ जानते हैं, वह सर्वज्ञ रैक्व मेरे द्वारा कहा गया-**यस्तद् वेद यत् स वेद, स मयैतदुक्तः**। (छां.उ.4.1.4)इस प्रकार उपक्रम में वेद शब्द से कहे गये रैक्व के ज्ञान का 'हे भगवन्! आप जिस देवता की उपासना करते हैं, उसका मुझे उपदेश कीजिए'-**अनु म एतां भगवो देवतां शाधि, यां देवताम् उपास्से**। (छा.उ.4.2.2) इस प्रकार उपासना शब्द से उपसंहार देखा जाता है। इस से वेदन और उपासना शब्द का एक ही अर्थ सिद्ध होता है।

पद से निर्देश करती है। अव्यवहार्य, प्रपञ्चोपशम आदि पदों की व्याख्या पूर्व में द्वितीय खण्ड के पञ्चम मन्त्र में की जा चुकी है। वहाँ तुरीय के अग्राह्यत्वादि जो विशेषण वर्णित हैं, उन्हें भी यहाँ जानना चाहिए। जैसे अकार, उकार और मकार से प्रतिपाद्य विश्व, तैजस और प्राज्ञ हैं, वैसे ही अर्धमात्रा से प्रतिपाद्य तुरीय है और जैसे व्यस्त प्रणव (अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा) से प्रतिपाद्य विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय हैं, वैसे ही समस्त प्रणव से प्रतिपाद्य चतुष्पाद ब्रह्म है।

सोऽयमात्मा चतुष्पात् (मां.उ.1.2)इस प्रकार प्रथम खण्ड में जिस आत्मा के चार पादों के निरूपण की प्रतिज्ञा करके द्वितीय खण्ड में जिसके विश्वादि पादों का निरूपण किया गया और **एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञः**(मां. का.2.4) इत्यादि रीति से जिसके ऐश्वर्य का प्रतिपादन किया गया, वह चतुष्पाद परमात्मा मुमुक्षु के द्वारा मोक्षप्राप्ति के लिए अवश्य विशेषरूप से ज्ञेय है, यह **स आत्मा, स विज्ञेयः।** (मां.उ.2.5) इस वाक्य से कहा जाता है। ज्ञेय(उपास्य) ही प्राप्य होता है अतः प्रस्तुत व्याख्येय मन्त्र में वह चतुष्पाद ब्रह्म ही प्राप्य कहा है, उसकी प्राप्ति उपासना से ही संभव है। उसकी उपासना भी उपासना से प्रसन्न हुए तुरीय के अनुग्रह से संभव है। जो अमात्रत्व और अव्यवहार्यत्वादि विशेषणों से विशिष्ट तुरीय परमात्मा की उपासना करता है, वह उसके अनुग्रह से समस्त ओंकार के वाच्य चतुष्पाद परमात्मा की उपासना कर उसे प्राप्त करता है, यह इस मन्त्र का सार है।

।। माण्डूक्योपनिषत् की तत्त्वविवेचनीव्याख्या समाप्त ।।

अत्रैते श्लोका भवन्ति-

पूर्व मन्त्र के विषय में ये श्लोक कहे जाते हैं-

माण्डूक्यकारिकाः

ओंकारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः।
ओंकारं पादशो ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।24।।

अर्थ

विश्वादि चार पादों(रूपों)से समस्त प्रणव के प्रतिपाद्य परमात्मा को

जानना चाहिए। मात्रा (प्रणव के अवयव अकारादि से प्रतिपाद्य विश्वादि) ही पाद हैं, इस विषय में कोई सन्देह नहीं। चार पादों के द्वारा ओंकार के प्रतिपाद्य ब्रह्म को जानकर अन्य किसी भी साध्य-साधन का चिन्तन नहीं करना चहिए।

व्याख्या

ओंकार से प्रतिपाद्य ब्रह्म के ही चार रूप विश्वादि हैं, अर्थात् ब्रह्म ही इन चार रूपों में स्थित है अतः चार रूपों से ब्रह्म को जानने का अर्थ है-क्रम से चार रूपों वाले ब्रह्म को जानना, इसे जानकर इसका ही चिन्तन करें, अन्य का नहीं क्योंकि इसका चिन्तन करने वाला जीवन के परम लाभ को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है।

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्॥25॥

अर्थ

मुमुक्षु प्रणव में चित्त को समाहित करे। प्रणव भयरहित ब्रह्म है। प्रणव में चित्त समाहित करने वाले को तीनों कालों में संसारभय नहीं होता।

प्रणवो ह्यपरं[1] ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्यो न परः[2] प्रणवोऽव्ययः॥26॥

अर्थ

प्रणव(से प्रतिपाद्य ब्रह्म) ही विश्वादि पादों का मूलरूप है और प्रणव ही विश्वादि रूप कहा गया है, वह कारणरहित है, विनाश से रहित है और बाह्य देश से रहित है, उससे उत्कृष्ट कोई नहीं है। प्रणव विकार से रहित है।

व्याख्या

पर से भिन्न को अपर कहते हैं। विश्वादिरूप पर हैं अतः उससे भिन्न मूलरूप को अपर कहा गया है। परिच्छिन्न वस्तु का बाह्य देश होता है,

1. अपरः पूर्वतनः(कू.भा., ख.व्या.)।
2. 'न परः' इत्यस्य स्थाने 'अनपरः' इति पाठः।

यह अपरिच्छिन्न है, अतः बाह्यदेश से रहित है। यहाँ अन्तर शब्द का अर्थ विनाश है और अनन्तर का अर्थ विनाश से रहित है-**अन्तशब्दपर्यायो ह्यन्तरशब्दः। न विद्यते अन्तरं नाशो यस्य अनन्तरः।** (प्रदी.)।

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम्॥27॥

अर्थ

प्रणव (से प्रतिपाद्य ब्रह्म) ही सबकी उत्पत्ति का कारण है, स्थिति का कारण है और उसी प्रकार लय का भी कारण है। इस प्रकार प्रणव का ही साक्षात्कार करके उपासक प्रारब्धभोग के पश्चात् प्रणव को प्राप्त करता है।

प्रणवं हीश्वरं विद्यात् सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति॥28॥

अर्थ

सबके हृदय में विद्यमान सर्वनियन्ता प्रणव परमात्मा को जानना चाहिए क्योंकि (तत्पश्चात्) सर्वव्यापक परमात्मा का साक्षात्कार करके ज्ञानी पुरुष शोक नहीं करता अर्थात् मुक्त हो जाता है।

व्याख्या

प्रस्तुत कारिका में 'विद्यात्' पदसे श्रवण, और मननरूप परोक्षज्ञान विवक्षित हैं और 'मत्वा' से अपरोक्षज्ञान। गुरुमुख से वेदान्तवाक्यों का श्रवण, मनन और उसके पश्चात् साक्षात्कारात्मिका उपासना करके ज्ञानी महापुरुष शोक नहीं करता।

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च   द्वैतस्योपशमश्शिवः।
ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः॥
स मुनिर्नेतरो जनः॥29॥

॥ इति माण्डूक्यकारिकाः॥

अर्थ

मात्रा से रहित, अनन्त मात्राओं वाला, द्वैत का निवर्तक, आनन्दरूप

ओंकार का साक्षात्कार जिसने कर लिया, वही मुनि है, इतरजन मुनि नहीं है। वही मुनि है, इतरजन मुनि नहीं है।

व्याख्या

अकार, उकार, मकार ये तीन मात्राएं और चतुर्थ नाद अर्धमात्रा के वाच्य क्रमशः विश्वादि चार रूप हैं किन्तु उन रूपों वाला ब्रह्म इनमें से किसी का भी वाच्य नहीं है अतः अमात्र कहलाता है, वह इन चारों का मूल है, मात्राओं का वाच्य न होने पर भी समस्त प्रणव का वाच्य है। भगवान् अनन्तमात्र अर्थात् अनन्तरूप हैं, वे अपने संकल्प से जगत् के विविध कार्यों की सिद्धि के लिये विविधरूपों को धारण करने वाले हैं। द्वैत का अर्थ मिथ्याज्ञान है, इसे द्वितीय खण्ड(मां.उ.2.5) की व्याख्या में विवृत किया गया है। द्वैतस्योपशम का अर्थ है-मिथ्याज्ञान का निवर्तक। जिसने ऐसे आनन्दरूप ओंकार ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया, वही मुनि है, उससे भिन्न पुरुष मुनि नहीं क्योंकि मुनि तो मनन करके साक्षात्कारद्वारा संसारचक्र से मुक्त हो जाता है, दूसरे शास्त्रवेत्ता होने पर भी उस चक्र में घूमते रहते हैं। **स मुनिर्नेतरो जनः** इस वाक्य से मननशील की महिमा ख्यापित होती है, इसकी आवृत्ति प्रस्तुत प्रकरण की कारिकाओं की समाप्ति का सूचक है।

।। माण्डूक्यकारिका की तत्त्वविवेचनी व्याख्या समाप्त ।।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।
।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

अनुग्रहेण सीतायाः रामस्य च मया कृता।
श्रीत्रिभुवनदासेन व्याख्येयं सुमनोरमा।।1।।
कनकभवनाधीशः सीतया सह राजते।
समर्प्यते कृती रम्या तयोः पादारविन्दयोः।।2।।

।। इति ।।

परिशिष्ट

संकेतानुक्षरानुक्रमणिका-1

अ.को.	अमरकोशः
अ.शि.उ.	अथर्वशिखोपनिषत्
अ.सं	अथर्ववेदसंहिता
अ.सू.	अष्टाध्यायीसूत्रम्
आ.भा.	आनन्दभाष्यम्
ई.उ.वे.भा.	ईशावास्योपनिषद्-वेदान्ताचार्यभाष्यम्
उ.प्र.	उपनिषत्प्रकाशिका
ऐ.उ.आ.भा.	ऐतरेयोपनिषद्-आनन्दभाष्यम्
ऐ.उ.रं.भा	ऐतरेयोपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्यम्
ऋ.सं.	ऋग्वेदसंहिता
क.उ.	कठोपनिषत्
कू.भा.	कूरनारायणभाष्यम्
ख.व्या.	खण्डार्थव्याख्या
गी.	गीता(श्रीमद्भगवद्गीता)
छां.उ.	छान्दोग्योपनिषत्
जै.सू.	जैमिनीयसूत्रम्
त.चि.	तत्त्वचिन्तामणिः
त.दी.गु.	तर्कदीपिकागुणनिरूपणम्
त.भा.प्र.	तर्कभाषाप्रमेयनिरूपणम्
तै.आ.	तैत्तिरीय-आरण्यकम्
तै.उ.	तैत्तिरीयोपनिषत्
तै.उ.आ.भा.	तैत्तिरीयोपनिषद्-आनन्दभाष्यम्
तै.ना.उ.	तैत्तिरीयनारायणोपनिषत्
नि.	निरुक्तम्
पां.सं.	पांचरात्रसंहिता
प्र.उ.	प्रश्नोपनिषत्
प्रका.	प्रकाशिका(मध्वभाष्यस्य व्याख्या)

प्रदी.	प्रतिपदार्थदीपिका
प्र.भा.गु.	प्रशस्तपादभाष्यगुणप्रकरणम्
बा.म.अ.	बालमनोरमा-अजन्तनपंसुकलिङ्गप्रकरणम्
बृ.उ.	बृहदारण्यकोपनिषत्
बृ.उ.मा.पा.	बृहदारण्यकोपनिषद्-माध्यन्दिनपाठः
बो.	बोधिचर्यावतारः
ब्र.उ.	ब्रह्मोपनिषत्
ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्रम्
ब्र.सू.भा.भा.	ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्यम्
ब्र.सू.गो.भा.	ब्रह्मसूत्रगोविन्दभाष्यम्
ब्र.सू.शां.भा.	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्
भा.प्र.	भावप्रकाशिका(श्रुतप्रकाशिकायाः व्याख्या)
म.भा.	मध्वभाष्यम्
म.भा.शां	महाभारत-शान्तिपर्व
महाभाष्यम्	व्याकरणमहाभाष्यम्
मां.उ.	माण्डूक्योपनिषत्
मां.का.	माण्डूक्यकारिका
मुं.उ.	मुण्डकोपनिषत्
मुक्ति.उ.	मुक्तिकोपनिषत्
य.सं.	यजुर्वेदसंहिता
यो. सू.	योगसूत्रम्
व.भा.	वरवरमुनिभाष्यम् (तत्त्वत्रयस्य)
वि.पु.	विष्णुपुराणम्
वि.स.ना.	विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्
वे.प.	वेदान्तपरिभाषा
रं.भा.	रङ्गरामानुजभाष्यम्
लि.सू.	लिङ्गानुशासनसूत्रम्
श्वे.उ.	श्वेताश्वतरोपनिषत्
श्वे.उ.रं.भा.	श्वेताश्वतरोपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्यम्
श्रीभा.	श्रीभाष्यम्

श्रीभा.प्र.	श्रीभाष्यप्रकाशिका
श्रीभा.मं.	श्रीभाष्यमङ्गलाचरणम्
श्रु.प्र.	श्रुतप्रकाशिका
स.सि.	सर्वार्थसिद्धिः

मन्त्रानुक्रमणिका-2

कारिकानुक्रमणिका-3

प्रमाणानुक्रमणिका-4

आचार्यानुक्रमणिका-5

ग्रन्थानुक्रमणिका-6

1. **अमरकोशः**
श्रीभानुजिदीक्षितकृतया सुधाख्यया 'रामाश्रमी'त्यपरनामधेयया व्याख्यया सहितः, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 1985

2. **ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः**
चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, सन 1990

3. **ईशाद्यष्टोपनिषदः**
श्रीभगवन्निम्बार्कमतानुयायिमहानुभावविद्वद्भिर्विरचिता उपनिषत्प्रकाशाख्यटीकोपेता, प्रभाकर मुद्रणालय मथुरा, वि.सं.1994

4. **ईशावास्योपनिषत्**
तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2014

5. **उपनिषद्भाष्यम्**
(ईश-केन-कठ-षट्प्रश्न-आथर्वण-माण्डूक्य-तैत्तिरीयोपनिषदः)
श्रीवादिराजतीर्थविरचितप्रकाशिकासंवलितया श्रीजयतीर्थविरचितया टीकया, श्रीराघवेन्द्रतीर्थविरचितेन उपनिषत्खण्डार्थेन च विभूषितम्, पूर्णप्रज्ञसंशोधनमन्दिरम् पूर्णप्रज्ञविद्यापीठम् बेंगलूर, सन1997

6. **कठोपनिषत्**
तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2015

7. **केनाद्युपनिषद्भाष्यम्**
श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचितम्, उत्तमूरवीरराघवाचार्यविरचितभाष्य परिष्कारविभूषितम्, 25 नाथमुनि वीथी, ति. नगर मद्रास, सन 1972

8. **केनोपनिषत्**
तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2015
9. **केनोपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्यम्**
ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2016
10. **तत्त्वत्रयम्**
श्रीलोकाचार्यविरचितम्, तत्त्वविवेचनीहिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन1915
11. **तर्कभाषा**
हिन्दीव्याख्यासहिता, व्याख्याकारः बदरीनाथशुक्लः, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, सन.1996
12. **तर्कसंग्रहः**
अन्नंभट्टविरचितः स्वोपज्ञदीपिकासहितः, हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्याकार कांशीराम व सन्ध्या राठौर, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, सन 2012
13. **तर्कसंग्रहः**
प्राचीन नौ टीका-न्यायबोधिनी-वाक्यवृत्ति-निरुक्ति-पट्टाभिरामटिप्पणी-दीपिका-रामरुद्री-नृसिंहप्रकाशिका-नीलकण्ठप्रकाशिका-पट्टाभिरामप्रकाशिका, चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, वि.सं. 2054
14. **तैत्तिरीय-ऐतरेय-छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्**
श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचितम्,
श्रीउत्तमूरवीरराघवाचार्यप्रणीतपरिष्कारपरिष्कृतम्, 25 नाथमुनि वीथी टी. नगर चेन्नई, सन 1973
15. **न्यायकुसुमाञ्जलिः**
भाषानुवादसहितः, सम्पादको व्याख्याकारश्च श्रीदुर्गाधर झा, सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः वाराणसी, सन 1985
16. **न्यायकोशः**
महामहोपाध्यायभीमाचार्येण विरचितः, भाण्डारकरप्राच्यविद्यासंशोधन

मन्दिरम् पुणे, सन 1996

17. **पातञ्जलयोगदर्शनम्**
व्यासभाष्य, हिन्दी अनुवाद तथा सुविशद हिन्दीव्याख्या, व्याख्याकार सांख्ययोगाचार्य श्रीमत्स्वामी हरिहरानन्द आरण्य, सम्पादक डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, सन 1980

18. **प्रशस्तपादभाष्यम्**
प्रशस्तपादाचार्यप्रणीतम्, श्रीधरभट्टप्रणीतया न्यायकन्दलीव्याख्यया समलंकृतम्, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय: वाराणसी, वि.सं.2053

19. **प्रश्नोपनिषत्**
तत्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2016

20. **बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यम्**
श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचितम्, श्रीउत्तमूरवीरराघवाचार्येण सम्पादितम्, श्रीतिरुमल तिरुपति देवस्थानम् तिरुपति, सन1953

21. **बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यम्** (द्वितीयो भाग:)
प्रतिपदार्थदीपिका-प्रकाशिका-आनन्दभाष्यम्-सुबोधिन्याख्य-भाष्यचतुष्टयोपेता (विमर्शात्मकं सम्पादनम्), संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन 2011

22. **ब्रह्मसूत्रगोविन्दभाष्यम्**
श्रीबलदेवविद्याभूषणविरचितम्, हिन्दी अनुवादसहितम्, प्रकाशक कृष्णदास कुसुमसरोवर वाले, वि.सं.2011

23. **ब्रह्मसूत्रभाष्यम्**
श्रीभास्कराचार्यविरचितम्, सम्पादक म.म.विन्ध्येश्वरीप्रसादद्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, सन 1991

24. **ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्**
श्रीसत्यानन्दसरस्वतीस्वामिभिर्विरचितेन भापानुवादेन समलंकृतम्, गोविन्दमठ टेढ़ीनीम वाराणसी(उ.प्र.), वि.सं. 2028

25. **भारतीय दर्शन**
चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, सन 2004

26. **भारतीय दर्शन** (1)

डॉ राधाकृष्णन्, राजपाल एण्ड सन्ज कश्मीरी गेट दिल्ली, सन1995

27. **भारतीय दर्शन** (2)
डॉ. राधाकृष्णन्, राजपाल एण्ड सन्ज कश्मीरी गेट दिल्ली, सन 1995

28. **माण्डूक्योपनिषत्**
गौडपादीयकारिकासहिता, आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्य समेता टिप्पणी और हिन्दीव्याख्यासहित, श्रीकैलाश आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति , मुनि की रेती ऋषीकेश, वि.सं.2038

29. **माण्डूक्योपनिषत्**
भाष्यपञ्चकोपेता (प्रतिपदार्थदीपिका, कूरनारायणभाष्यम्, प्रकाशिका, आनन्दभाष्यम्, सुबोधिनी) (विमर्शात्मकं सम्पादनम्) संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन 2005

30. **माण्डूक्योपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्यम्**
ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2016

31. **मुण्डकोपनिषत्**
तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2016

32. **विशिष्टाद्वैतकोशः** (प्रथमः सम्पुटः)
संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन 1983

33. **विशिष्टाद्वैतकोशः** (द्वितीयः सम्पुटः)
संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन 1987

34. **विशिष्टाद्वैतकोशः** (तृतीयः सम्पुटः)
संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन 1989

35. **विशिष्टाद्वैतकोशः** (षष्ठः सम्पुटः)
संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन 2005

36. **विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन**
स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2013

37. **विष्णुपुराण**

हिन्दी अनुवादसहित, अनुवादक मुनिलाल गुप्त, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.स.2050

38. **वेदार्थसंग्रहः** (विमर्शात्मकं सम्पादनम्)
श्रीरामानुजाचार्यविरचितः, संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन 1991

39. **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** (पूर्वार्धम्))
श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता, तत्त्वबोधिनीटीकया बालमनोरमाख्यया व्याख्यया लघुशब्देन्दुशेखरटीकया टिप्पण्यया च समन्विता, प्रकाशक श्रीसीतारामशास्त्री राजस्थान संस्कृत कालेज ग्रन्थमाला, मीरघाट काशी, वि.सं.1997

40. **वैशेषिकदर्शनप्रशस्तपादभाष्यम्**
प्रशस्तपादमुनिप्रणीतम्, श्रीधराचार्यविरचितन्यायकन्दलीसमाख्यया टीकया समन्वितम्, मेडिकल हाल यन्त्रालय काशी, वि.सं.2051

41. **लघुसिद्धान्तकौमुदी** (प्रथम भाग)
भैमीव्याख्या, भैमी प्रकाशन 537, लाजपतराय मार्केट दिल्ली, सन 2008

42. **लघुसिद्धान्तकौमुदी**
गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं.2043

43. **श्रीभाष्यम्** (प्रथमसम्पुटः)
भगवद्रामानुजविरचितम्, संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, कर्नाटक, सन 1985

44. **श्रीभाष्यम्** (चतुर्थोभागः)
श्रीमद्भगवद्रामानुजविरचितवेदान्तसूत्रव्याख्यानम्, श्रीसुदर्शनाचार्य-श्रीरङ्गरामानुजाचार्यप्रणीतश्रुतप्रकाशिका-भावप्रकाशिकाटीकाद्वयोपेतम्, श्रीनिवासप्रेस वृन्दावन, सन 1917

45. **श्रीमद्भगवद्गीता**
तात्पर्यचन्द्रिकासहितं रसास्वादाख्यटिप्पणीसहितं च रामानुजभाष्यम्, उत्तमूर वीरराघवाचार्य सेनेटरी ट्रस्ट नाथमुनि स्ट्रीट, टी. नगर चेन्नई, सन 2004
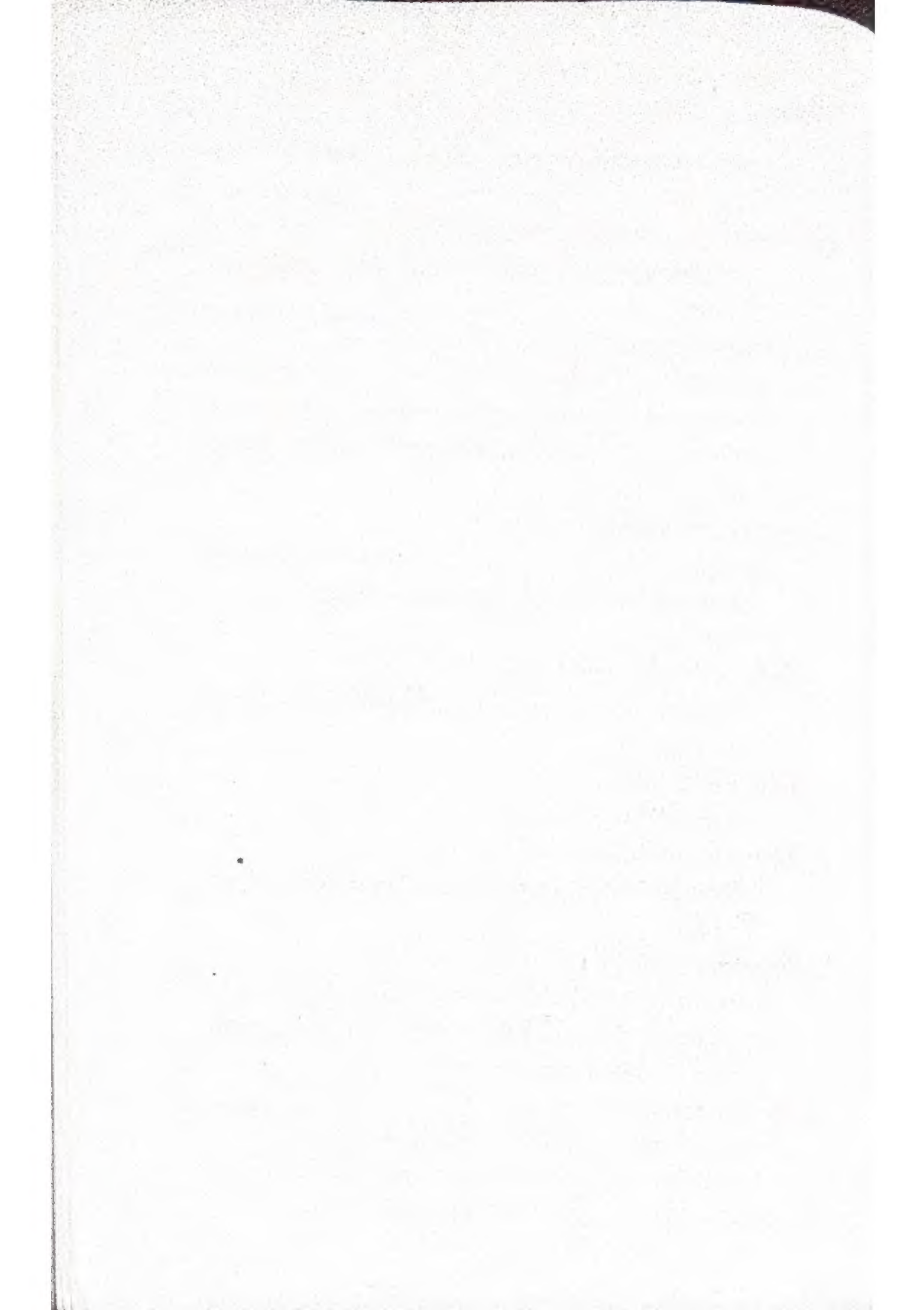
प्रस्तुत ग्रन्थ में मन्त्र के पश्चात् अन्वय और मन्त्र के पदों का अर्थ प्रस्तुत है, जिससे सामान्य पाठकों को भी मन्त्रार्थ सरलता से हृदयंगम हो सके, इसके पश्चात् अद्यावधि पर्यन्त उपलब्ध उपनिषद्भाष्यों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रङ्गरामानुजभाष्य, उसका अनुवाद, गम्भीर, विस्तृत और हृदयस्पर्शी व्याख्या तथा टिप्पणी सन्निविष्ट है। विषय वस्तु को अवगत कराने के लिए यथोचित शीर्षकों से सुसज्जित किया गया है, इसके अध्ययन से विषय अनायास ही हृदयपटलपर अंकित होता चला जाता है, पाठकगण इसका स्वयं अनुभव करेंगे। मन्त्र के यथाश्रुत अर्थ का बोध कराना ही व्याख्याकार आचार्य स्वामी त्रिभुवनदास को अभीष्ट है फिर भी कुछ स्थलों में अन्य मतों की समालोचना हुई है, जो कि प्रासङ्गिक है। ग्रन्थ के अन्तमें परिशिष्ट भी दिये गये हैं, जिससे यह ग्रन्थ शोधकर्ताओं के लिए भी संग्राह्य है।

व्याख्याकार की प्रकाशित कृतियाँ

- विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन
- ईशावास्योपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
- कठोपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
- मुण्डकोपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
- माण्डूक्योपनिषत्-तत्त्वविवे[illegible]व्याख्या
- तत्त्वत्रयम्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
- केनोपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
- प्रश्नोपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
- केनोपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्य-ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या
- माण्डूक्योपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्य-ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या

प्रकाशनाधीन

- ऐतरेयोपनिषद्-रङ्गरामानुजभा[illegible]नगङ्गा हिन्दीव्याख्या
- ऐतरेयोपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
- प्रश्नोपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्य-ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या
- वेदस्तुति-हिन्दीव्याख्या
- श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर-हिन्दीव्याख्या
- तर्कसंग्रहपदकृत्य-हिन्दीव्याख्या
- मीमांसापरिभाषा-हिन्दीव्याख्या
- यतीन्द्रमतदीपिका-हिन्दीव्याख्या
- छान्दोग्योपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
- तैत्तिरीयोपनिषत-तत्त्वविवेचनी् हिन्दीव्याख्या
- बृहदारण्यकोपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
- श्रीमद्भगवद्गीता-ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या
- ब्रह्मसूत्र-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
- श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण-हिन्दीव्याख्या
- सांख्यकारिकागौडपादभाष्य-हिन्दीव्याख्या

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली